आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च

विवेक-शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा की प्रमुख हि मासिक

वर्ष—१६ जुलाई, सितम्बर--2000 अंक—७-९

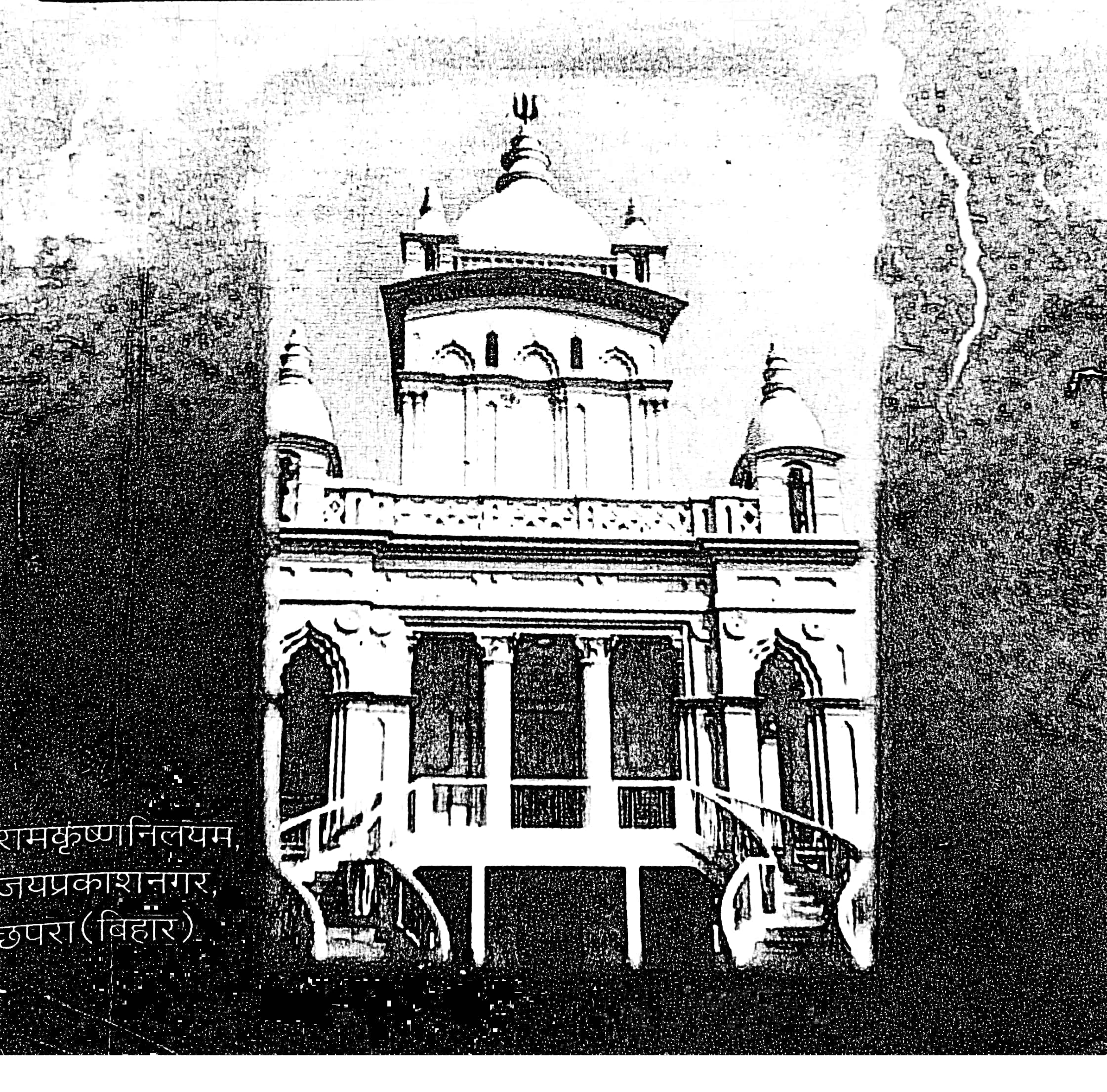

रामकृष्ण निलयम,
जयप्रकाश नगर,
छपरा (बिहार)

रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ

रामकृष्ण नगर विद्यापीठ, देवघर–814 112 (बिहार)

एक निवेदन

भगवान श्री रामकृष्णदेव, माँ सारदा तथा स्वामी विवेकानन्द के पावन पदरज से तीर्थीकृत तथा स्वामी विवेकानन्द स्मृतिविजड़ित आकर्षण केन्द्र, ज्योतिर्लिंग बाबा वैद्यनाथ की इस पुनीत नगरी देवघर में रामकृष्ण संघ द्वारा संचालित प्रथम आवासीय शिक्षण संस्थान रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ की स्थापना सन् 1922 में हुई। भगवान श्री रामकृष्ण देव के अन्यतम पार्षद स्वामी तुरीयानन्दजी महाराज से अनुप्राणित तथा स्वामी विवेकानन्द के शिक्षादर्शों पर आधारित आज से 77 वर्ष पूर्व स्थापित यह शिक्षण संस्थान आज पूरे भारतवर्ष में विख्यात है। रामकृष्ण संघ के द्वितीय परमाध्यक्ष परमपूजनीय श्रीमत् स्वामी शिवानन्दजी महाराज ने भविष्यवाणी की थी—'इस विद्यापीठ के माध्यम से भविष्य में बहुत महान कार्य सम्पन्न होंगे, इसका भविष्य बड़ा ही उज्ज्वल है।'

अपने विगत 77 वर्षों की यात्रा के दर्म्यान इस विद्यापीठ ने अपनी उपलब्धियों की दृष्टि से एक शताब्दी से अधिक वर्षो की यात्रा की है। "बाल कल्याण के क्षेत्र में इसके उत्कृष्ट कार्यों के लिए राष्ट्रीय पुरस्कार" से इसे सम्मानित करना एक प्रमाणक है। इसी से माध्यमिक शिक्षा की केन्द्रीय परिषद् (सी०बी०एस०ई०) नई दिल्ली ने इसे स्थायी सम्बद्धता प्रदान की है।

विद्यापीठ में (V से X वीं कक्षा तक) कुल 307 छात्र हैं। इसके आवासीय खण्ड में 12 धाम (प्रखण्ड) हैं जो कि रामकृष्ण के शिष्यों के नाम पर रखे गये हैं।

अब आपको यह जानकर निश्चय ही प्रसन्नता होगी कि विद्यापीठ अप्रैल 2000 ई० से "+2 कक्षाएं" (वर्ग 11 और 12) का शुभारंभ करने जा रहा है। इसकी आवश्यक संरचना के विकास के लिए प्राय: 60 लाख रुपयों की आवश्यकता होगी—

- छात्रावास—परिसर का निर्माण (छात्रावास, प्रार्थना-भवन, भोजनालय आदि) — 54 लाख रुपये
- उपस्कर, प्रयोगशालाओं का उन्नतिकरण (भौतिक शास्त्र, रसायण शास्त्र, जीव-विज्ञान और कंप्यूटर) — 6 लाख रुपये

कुल 60 लाख रुपये

अत: हम अपने मित्रों और भक्तों से इस उत्कृष्ट प्रयास के लिए उदारता-पूर्वक सहायता करने का अनुरोध करते हैं।

प्रभु-सेवा में आपका,
स्वामी सुवीरानन्द
सचिव

नोट :—1. रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ, देवघर के नाम से ही चेक या ड्राफ्ट भेजे जाएं।

2. रामकृष्ण मिशन को दिया गया दान आयकर की धारा 80 (G) के अंतर्गत आयकर से मुक्त है।

उत्तिष्ठत् जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत

विवेक-शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा की प्रमुख
हिन्दी मासिकी

जुलाई-सितम्बर २०००

सम्पादक
डॉ० केदारनाथ लाभ

सहायक सम्पादक
ब्रज मोहन प्रसाद सिन्हा

वार्षिक ६०/- | वर्ष १९ अंक ७-९ | एक प्रति ५/-

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२० वर्षों के लिए) ७००/-

सम्पादकीय कार्यालय
विवेक-शिखा
रामकृष्ण निलयम्
जयप्रकाश नगर
छपरा-841301 (बिहार)
दूरभाष : (06152) 22639

इस अंक में

१. श्रीरामकृष्ण ने कहा है ३
२. परब्रह्म स्तोत्रम्
-श्रीमत् शंकराचार्य ४
३. श्रीकृष्ण
-स्वामी विवेकानन्द ५
४. निःसंग परिव्राजक स्वामी अखण्डानन्द
-स्वामी गम्भीरानन्द ८
५. भगवत्-शरण
-स्वामी भूतेशानन्द १२
६. श्रीरामकृष्ण के अन्तरंग शिष्य
-स्वामी रंगनाथानन्दजी १६
७. भगवान् श्रीकृष्ण : जीवन और संदेश
-स्वामी आत्मानन्द २७
८. बौद्धमत की वर्तमान प्रासंगिकता
-प्रो० कैलाश 'स्वच्छन्द' ४०
९. तथागत के निर्वाण के वे क्षण
-डॉ० सुरेन्द्रनाथ दीक्षित ४३
१०. करनधार सद्गुरु दृढ़ नावा
-स्वामी शशांकानन्द ४६
११. देश-भक्ति के आँसू
-स्वामी निखिलेश्वरानन्द ५२
१२. विशिष्टाद्वैती श्रीरामानुजाचार्य
-प्रो० श्रीराजाभाऊ लिमये ५५
१३. व्यक्तिगत जीवन से ऊपर उठ
-स्वामी देवानन्द ६०
१४. स्वामी विवेकानन्द और भारतीयता की अवधारणा
-कु० ऋचा रश्मि ६२

विवेक शिखा के आजीवन सदस्य

१९४. स्वामी चिरन्तनानन्द - रा.कृ.मि. नरोत्तमनगर
१९५. श्री हरवंशलाल पाहड़ा - जम्मूतवी, कश्मीर
१९६. श्री योगेश कुमार जिंदल - दिल्ली
१९७. डॉ. अखिलेश्वर कुमार - कनखल
१९८. श्री अनिल कुमार पूनमचन्द जैन - नागपुर
१९९. डॉ. शीला जैन - बीकानेर
२००. श्री डी.एन. देशमुख - चन्द्रपुर (महाराष्ट्र)
२०१. सचिव, रामकृष्ण वि. सेवाश्रम - अम्बिकापुर (म.प्र.)
२०३. श्री ओमभक्त बुड़ाथोपी - डाँग, नेपाल
२०४. श्री ए.डी. भट्टाचार्य - भद्रकाली (पं.बं.)
२०५. हिन्दी विभाग, राजेन्द्र कॉलेज - छपरा (बिहार)
२०६. श्री दीपक कुमार विद्यार्थी - कराधीक्षक, गिरिडीह (बिहार)
२०७. श्रीमती निभा कौल - कलकत्ता
२०८. सचिव, रामकृष्ण मिशन - पोरबन्दर (गुजरात)
२०९. सचिव, रामकृष्ण मिशन - राँची (बिहार)
२१२. श्रीमती शुभा कामत - मुम्बई (महाराष्ट्र)
२१३. स्वामी प्रत्यगानन्द - रामकृष्ण मिशन स्टुडेन्ट्स होम, चेन्नई
२१४. श्री पंकज कुमार - सुबनसिटी, अरूणाचल प्रदेश
२१५. श्री बी.एल. अगरवाल - नगाँव, आसाम
२१६. श्री कैलाश खेतान - राहा, आसाम

विवेक शिखा की संरक्षक योजना

विवेक शिखा के प्रकाशन की सुविधा को ध्यान में रखकर 'विवेक शिखा' के 'स्थायी कोष' की एक योजना बनायी गयी है। जो कोई कम से कम १०००/- (एक हजार) रुपये या इससे अधिक रुपये 'विवेक शिखा' के स्थायी 'कोष' के लिए दान देंगे वे इसके संरक्षक होंगे। विवेक शिखा में उनका नाम प्रकाशित होगा और वे आजीवन विवेक शिखा निः शुल्क प्राप्त करते रहेंगे। विवेक शिखा के जो आजीवन सदस्य हैं वे शेष रकम देकर इसके संरक्षक हो सकते हैं। यह योजना केवल भारत के दाताओं के लिए लागू हैं।

– व्यवस्थापक

❋ संरक्षक सूची ❋

	संरक्षक का नाम	स्थान	रकम
१.	श्रीमती कमला घोष	इलहाबाद	३,०००/-
२.	श्री नन्द लाल टांटिया	कलकत्ता	१,०००/-
३.	श्री हरवंश लाल पाहड़ा	जम्मूतवी	१,०००/-
४.	श्रीमती निभा कौल	कलकत्ता	१,०००/-
५.	डॉ० सुजाता अग्रवाल	कर्नाटक	१,०००/-
६.	श्रीमती सुभद्रा हाकसर	कलकत्ता	५,०००/-
८.	स्वामी प्रत्यगानन्द	चेन्नई	१,०००/-
९.	श्रीमती रंजना प्रसाद	दुर्गापुर	१,०००/-
१०.	प्रो० श्री जी.पी.एस. घिमिड़े	काठमांडु	१,०००/-

ॐ उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॐ
उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त किए बिना विश्राम मत लो !

विवेक - शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा की प्रमुख
हिन्दी मासिकी

वर्ष १९ जुलाई-सितम्बर २००० अंक ७-९

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप दिखा। निजानन्द में रखती आँचल विमल 'विवेक शिखा'।।

श्री रामकृष्ण ने कहा है

(१)

सादे काँच में किसी वस्तु का चित्र नहीं उतरता, परन्तु उसमें यदि मसाला लगा हो तो बराबर उतरता है, जैसे फोटो का काँच। इसी प्रकार शुद्ध मन में यदि भक्ति रूपी मसाला लगा रहे, तो भगवान का रूप आदि प्रत्यक्ष होता है। नहीं तो केवल शुद्ध मन में भक्ति के बिना भगवान का रूप देखने में नहीं आता।

(२)

जिसकी भगवान में भक्ति हो गयी है, उसका भाव कैसा होता हैं, जानते हो?-मैं यन्त्र हूँ, तुम यन्त्री हो; मैं घर हूँ, तुम घरवाले हो; मैं रथ हूँ, तुम रथी हो; जैसा कहलाते हो, वैसा ही कहता हूँ; जैसा कराते हो, वैसा ही करता हूँ; जैसा चलाते हो, वैसा ही चलता हूँ।

(३)

माँ के पाँच बच्चे हैं। उसने किसी को खिलौना, किसी को गुड़िया और किसी को खाना देकर भुला रखा है। उनमें से जो खिलौना फेंककर 'माँ-माँ' कहकर रोने लगता है, माँ झट से उसे गोदी में उठाकर शान्त करने लगती है। हे जीव, तुम कामिनी-काँचन में भूले हुए हो। यह सब फेंककर जिस समय तुम जगन्माता के लिए रोने लगोगे, उसी क्षण वह आकर तुम्हें गोदी में ले लेगी।

(४)

धन आदि मुझे नहीं मिला, मुझे लड़का नहीं हुआ, यह कह-कहकर लोग आँसुओं की धारा बहाया करते हैं, परन्तु मुझे भगवान नहीं मिले, उनके चरण कमलों में मेरी भक्ति नहीं हुई, यह कहकर क्या कोई अपनी आँखों से एक बूँद भी आँसू गिराता है?

परब्रह्म स्तोत्रम्

श्रीमत् शंकराचार्य

ॐ नमस्ते सते सर्वलोकाश्रयाय नमस्ते चिते विश्वरूपात्मकाय।
नमोऽद्वैततत्त्वाय मुक्तिप्रदाय नमो ब्रह्मणे व्यापिने निर्गुणाय।।१।।

त्वमेकं शरण्यं त्वमेकं वरेण्यं त्वमेकं जगत्कारणं विश्वरूपम्।
त्वमेकं जगत्कर्त्तृ पातृप्रहर्त्तृ त्वमेकं परं निष्कलं निर्विकल्पम्।।२।।

भयानां भयं भीषणं भीषणानां गतिः प्राणिनां पावनं पावनानाम्।
महोच्चैः पदानां नियंतृ त्वमेकं परेषां परं रक्षकं रक्षकाणाम्।।३।।

परेश प्रभो सर्वरूपाविनाशिन्ननिर्देश्य सर्वेन्द्रियागम्य सत्य।
अचिंत्याक्षरं व्यापकाव्यक्ततत्त्वं जगद्भासकाधीश पायादपायात्।।४।।

तदेकं स्मरामस्तदेकं भजामस्तदेकं जगत्साक्षिरूपं नमामः।
सदेकं निधानं निरालम्बमीशं भवाम्बोधिपोतं शरण्यं व्रजामः।।५।।

पंचरत्नमिदं स्तोत्रं ब्रह्मणः परमात्मनः।
यः पठेत्प्रयतो भूत्वा ब्रह्मसायुज्यमाप्नुयात्।।६।।

भावार्थ- ॐ हे, सकल संसार के आश्रय, सत्स्वरूप! तुम्हें नमस्कार है। हे, विश्वरूपात्मक चित्स्वरूप! तुम्हें नमस्कार है। हे, अद्वैत तत्त्वस्वरूप एवं मुक्तिदाता तुम्हें नमस्कार है। हे, सर्वव्यापी निर्गुण ब्रह्म! तुम्हें नमस्कार है।।१।।

इस संसार में एकमात्र तुम्हीं आश्रयस्थल हो, एकमात्र तुम्हीं वरेण्य हो, एकमात्र तुम्हीं जगत् के कारण और विश्वरूप हो, एकमात्र तुम्हीं संसार के स्रष्टा, पालक और संहारक हो, एकमात्र तुम्हीं सर्वश्रेष्ठ निष्कल एवं निर्विकल्प हो।।२।।

एकमात्र तुम्हीं भयसमूहों के भय, भीषणगणों के मध्य भीषणतम, प्राणियों की गति, पवित्रों के पवित्र, अत्यंत उच्च पदों से अधिष्ठितों के विधाता, श्रेष्ठों में श्रेष्ठतम एवं रक्षकों के रक्षक हो।।३।।

हे परमेश्वर, प्रभु विश्वरूप अविनाशी, अनिर्देश्य, समस्त इन्द्रियों के लिए अगम्य, सत्य, अचिन्त्य, अक्षर, व्यापक, अव्यक्त तत्त्व, जगत्-प्रकाशक अधीश्वर-अनिष्ट होने पर तुम हमलोगों की रक्षा करो।।४।।

उसी अद्वितीय का हम स्मरण करते हैं, उसी अद्वितीय का भजन करते हैं, उसी अद्वितीय, जगत् के साक्षी स्वरूप को हम प्रणाम करते हैं, सत्स्वरूप, निधान, निरालम्ब, परमेश्वर, भवसागर को नाव और आश्रय स्वरूप का हम आश्रय ग्रहण करते हैं।।५।।

जो एकाग्रचित से परब्रह्म परमात्मा के इस पंचरत्न स्तोत्र का पाठ करेंगे, वे ब्रह्मसायुज्य को प्राप्त करेंगे।।६।।

श्रीकृष्ण जन्माष्टमी के उपलक्ष्य में

श्रीकृष्ण

स्वामी विवे...

कृष्ण का आविर्भाव लगभग ठीक उन्हीं परिस्थितियों से परिवेष्टित है, जिनसे भारतवर्ष में बौद्ध धर्म का जन्म हुआ। केवल यही नहीं, उस समय की सी घटनाएँ हम अपने समय में भी घटित होते देख रहे हैं।

कोई एक आदर्श होता है। साथ ही अनिवार्य रूप से मानव जाति का एक ऐसा विशाल वृहत्तर अंश भी सदैव होता है, जो उस आदर्श के समीप, बौद्धिक स्तर पर भी नहीं पहुँच पाता। ....सबल व्यक्ति ही उसे सम्पन्न कर पाते हैं, किन्तु उन्हें बहुधा दुर्बलों के प्रति सहानुभूति नहीं होती। सबलों के निकट दुर्बल भिखारी मात्र हैं। सबल आगे बढ़ते चले जाते हैं। ....यह तो खैर हमें स्पष्ट ही है कि स्वीकृत होने योग्य उच्चतम स्थिति दुर्बलों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण और सहायक होने की है। किन्तु अनेक बार हमारे सहानुभूतिपूर्ण होने के मार्ग को दार्शनिक अवरुद्ध कर देता है। यदि हम इस सिद्धान्त का अनुसरण करनेवाले हों कि इस सम्पूर्ण अनन्त जीवन को अभी कुछ वर्षों के इस प्रस्तुत अस्तित्व द्वारा ही निर्धारित कर डालना है.......तब तो वह हमारे लिए वहुत ही निराशामय है.......और जो निर्बल हैं, उनकी ओर मुड़कर पीछे देखने का समय हमारे पास नहीं है। किन्तु यदि यह स्थिति न हो-यदि जगत् उन अनेक पाठशालाओं में से केवल एक हो, जिनके मध्य हमें गुजरना है, यदि चिरन्तन जीवन, शाश्वत नियम तथा शाश्वत अवसर हर एक की प्रतीक्षा कर रहे हों-तो हमें जल्दी में हाने की आवश्यकता नहीं। तब हमारे पास सहानुभूति करने, आस-पास देखने, दुर्बलों को सहारे का हाथ देने और उन्हें ऊपर उठाने का समय है।

बौद्ध धर्म में हमें संस्कृत के दो शब्द मिलते हैः धर्म और संघ। किन्तु एक परम विचित्र तथ्य यह है कि श्रीकृष्ण के शिष्यों और अनुयायियों के पास अपने धर्म का कोई नाम नहीं है; विदेशी लोग यद्यपि उसे हिन्दूधर्म या ब्राह्मणवाद कहते हैं। धर्म एक है, और संप्रदाय (संघ) अनेक। जिस क्षण उसे तुम एक नाम दे देते हो, व्यष्टीकृत कर शेष से पृथक कर देते हो, वह एक सम्प्रदाय बन जाता है, धर्म नहीं रह जाता। सम्प्रदाय अपने निजी सत्य का उद्घोष करता है और यह घोषणा करता है कि अन्यत्र कहीं भी सत्य नहीं है। धर्म यह विश्वास करता है कि संसार में धर्म केवल एक ही रहा है और अब भी केवल एक ही है। दो धर्मों का अस्तित्व कभी भी नहीं रहा है। वही एक धर्म विभिन्न स्थानों में विभिन्न पक्षों को प्रस्तुत करता है। (उसका) कार्य है, मानवता के लक्ष्य और प्रयोजन के सम्यक् बोध पर विचार करना।

कृष्ण का यही महान् कार्य था : हमारी आँखों को स्वच्छ करना और मानवता की ऊर्ध्वगामी तथा अग्रगामी प्रगति को विशालतर दृष्टि से दिखाना। उनका ही पहला हृदय था, जिसमें सबमें विद्यमान सत्य को देख सकने की विशालता थी, और उनकी ही प्रथम वाणी थी, जिससे प्रत्येक और समस्त के निमित्त सुन्दर शब्द उच्चरित हुए।

यह कृष्ण बुद्ध के लगभग एक हजार वर्ष

पूर्व हुए। ....बहुत से लोग इस बात में विश्वास नहीं करते कि उनका कभी अस्तित्व भी था। कुछ लोगों का विश्वास है कि (कृष्ण की उपासना) प्राचीन सूर्योपासना (से विकसित हुई)। ऐसा प्रतीत होता है कि कृष्ण कई हुए हैं : एक का उल्लेख उपनिषदों में है, दूसरे कोई राजा थे, अन्य एक सेनानी। इन सबको एक कृष्ण में पूंजीभूत कर दिया गया है। किन्तु इससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। तथ्य यह है कि कोई ऐसा व्यक्ति आता है, जो अध्यात्मिकता में अद्वितीय है। तब उसके चारों ओर सभी तरह की दंतकथाओं की सृष्टि हो जाती है। किन्तु ऐसे जिस एक व्यक्ति को लेकर जिन बाइबिलों और कथाओं की रचना होती है, उसके चरित्र के अनुसार उनको पुनः ढालना होता है। बाइबिल के नव व्यवस्थान में पायी जानेवाली समस्त कथाओं को ईसा के स्वीकृत जीवन और चरित्र के अनुरूप ढालना पड़ा है। बुद्ध से सम्बन्धित समस्त भारतीय कथाओं में भी उनके समग्र जीवन का मूल स्वर-दूसरों के लिए आत्म-त्याग सुरक्षित रखा गया है।......

कृष्ण में उनके संदेश में हमें......दो विचार सर्वोपरि मिलते हैं : पहला है विभिन्न विचारों का सामंजस्य; और दूसरा है अनासक्ति। मनुष्य पूर्णत्व को, सर्वोच्च लक्ष्य को, राजसिंहासन पर बैठे रहकर, सेनाओं का संचालन करते रहकर, राष्ट्रों के निमित्त विराट् योजनाओं को कार्यान्वित करते रहकर, प्राप्त कर सकता है। वस्तुतः कृष्ण का महान् उपदेश युद्धक्षेत्र में ही प्रदान किया गया है।

कृष्ण प्राचीन पुरोहितों की सारी छलना, विडम्बना और उनके विधि-विधानों की व्यर्थता के मर्म को अच्छी तरह समझ गये थे; किन्तु फिर भी उन्हें इन बातों में कुछ अच्छाई भी मिली।

यदि तुम एक सबल मनुष्य हो, तो बहुत अच्छा है। किन्तु तब उन लोगों की भर्त्सना न करो, जो तुम्हारे लिए अभीष्ट मात्रा में बलवान नहीं हैं। ....हर कोई कहता है, 'बुरा हो तुम्हारा!' लेकिन यह कहनेवाला कौन है, 'बुरा हो मेरा, जो मैं तुम्हारी सहायता नहीं कर सकता?' लोग अपनी क्षमता, सामर्थ्य और ज्ञान के अनुरूप जो कुछ उनसे सम्भव है, ठीक कर रहे हैं। बुरा हो मेरा, जो मैं उन्हें उठाकर वहाँ नहीं ला सकता, जहाँ मैं हूँ।

अतः कृष्ण का कहना है कि अनुष्ठान, देवताओं की पूजा और दंतकथाएँ, सब ठीक हैं। ......क्यों? क्योंकि वे सब उसी लक्ष्य की ओर ले जाते हैं। अनुष्ठान, ग्रंथ और आडंबर-ये सब शृंखला की कड़ियाँ हैं। बस, पकड़ लो! वही एक चीज है। यदि तुम निश्छल हो और तुमने किसी एक कड़ी को सचमुच पकड़ लिया है, तो उसे छूटने न दो, फिर शेष का आ जाना ध्रुव है। (किन्तु लोग) पकड़ते ही नहीं। वे इसी का निर्णय करने और इसी पर झगड़ने में समय बिताते रहते हैं, लेकिन उसे पाना कभी नहीं चाहते। ......हम केवल इधर-उधर भटकने और पूछने का सुख भर चाहते हैं। हमारे पास शक्ति प्रचुर है, किन्तु हम उसका व्यय इस प्रकार करते हैं। इसी कारण कृष्ण ने कहा है : एक ही केन्द्र से निकल कर बाहर फैली इन शृंखलाओं में से किसी एक को पकड़ लो। कोई एक पग दूसरे की अपेक्षा बड़ा नहीं है। ...धर्म के किसी भी पक्ष की, जहाँ तक वह निश्छल है, भर्त्सना न करो। इन शृंखलाओं में किसी एक को पकड़े रहो और वह तुम्हें केन्द्र में खींच

लाएगी। शेष सब स्वयं तुम्हारा हृदय ही तुम्हें सिखा देगा। भीतर बैठा हुआ गुरु सभी मत-मतांतरों और दर्शनों की शिक्षा दे देगा...

कृष्ण भी ईसा की भाँति अपने को ईश्वर मान कर बात करते हैं। वे देवता को अपने भीतर देखते हैं। और वे कहते हैं, 'मेरे मार्ग से हटकर कर कोई व्यक्ति नहीं जा सकता। सबको मेरे पास आना ही है। मुझको कोई जिस रूप में भेजता है, उसको मैं उसी रूप के प्रति श्रद्धा प्रदान करता हूँ, और उसी के द्वारा मैं उसको मिलता हूँ.....' उनका हृदय सम्पूर्णतः जनसाधारण के लिए है।

स्वतंत्र, कृष्ण झुकने से अस्वीकार करते हैं। उनकी निर्भीकता हमें डरा देती है। हम हर वस्तु पर निर्भर हैं-कुछ अच्छे शब्दों पर, परिस्थितियों पर। किन्तु जब आत्मा किसी भी वस्तु, जीवन तक पर, निर्भर न रहना चाहे तो, वह दर्शन की परकाष्ठा है, मनुष्यत्व की पराकाष्ठा है। उपासना भी उसी लक्ष्य तक ले जाती है। कृष्ण उपासना पर बड़ा बल देते हैं। ईश्वर की उपासना करो!

इस संसार में हम विविध प्रकार की उपसना देखते हैं। रोगी मनुष्य ईश्वर के प्रति बड़ा पूजा भाव रखता है। ....अपनी संपदा खो देनेवाला व्यक्ति धन पाने के निमित्त बड़ी पूजा करता है। लेकिन सर्वोच्च उपासना उस व्यक्ति की है, जो ईवश्वर को ईश्वर के निमित्त ही प्रेम करता है। (यह प्रश्न किया जा सकता है कि) ईश्वर है, तो संसार में इतना दुःख क्यों है? उपासक उत्तर देता है : "....दुःख इस जगत् में अवश्य है, (किन्तु) इस कारण मैं ईश्वर को प्रेम करना नहीं छोड़ सकता। मैं उसकी उपासना इसलिए नहीं करता कि वह मेरे (दुःख) को हर ले। मैं उसको इसलिए प्रेम करता हूँ कि वह साक्षात् प्रेम है।" अन्य (प्रकार की उपासना) निम्नस्तरी है। किन्तु कृष्ण किसी की भी निन्दा नहीं करते। निश्चल खड़े रहने की अपेक्षा कुछ करना अधिक अच्छा है। जो मनुष्य ईश्वर की उपासना आरंभ कर देता है, उसका विकास क्रमशः होता रहेगा और वह ईश्वर को केवल प्रेम के ही निमित्त प्रेम करने लगेगा।......

अब कृष्ण के जीवन के सम्बन्ध में कुछ शब्द। ईसा और कृष्ण के जीवन में प्रचुर मात्रा में सादृश्य मिलता है। इस बात पर वाद-विवाद चल रहा है कि कौन किसका ऋणी है। दोनों ही स्थानों में एक अत्याचारी राजा था। दोनों का ही जन्म चरनी में हुआ। दोनों के माता-पिता बन्दी थे। दोनों की रक्षा देवदूतों ने की। दोनों दृष्टांतों में उस वर्ष जन्मे सभी लड़कों की हत्या कर दी गयी। बचपन एक ही जैसा है। ..... अंततः दोनों की हत्या हुई। कृष्ण की मृत्यु दुर्घटना से हुई; जिस व्यक्ति ने उन्हें मारा था, उसे वे स्वर्ग ले गये। ईसा की हत्या हुई, उन्होनें उस डाकू को आशीष दिया और उसे स्वर्ग ले गये।

नव व्यवस्थान और गीता के उपदेशों में भी बहुत सी समानताएँ हैं। मानव विचारणा उसी पथ पर चलती हैं। .....मैं स्वयं कृष्ण के शब्दों में ही तुम्हारे लिए उत्तर खोज दूँगा। 'जब-जब धर्म की ग्लानि होती है और अधर्म की वृद्धि होती है, मैं अवतार लेता हूँ। बार-बार मैं आता हूँ। अतएव, जब कभी तू किसी महान् आत्मा को मानव जाति का उत्थान करने के निमित्त संघर्ष करते देख, जान ले कि मैं आया हूँ......।

नि:संग परिव्राजक स्वामी अखण्डानन्द

-स्वामी गम्भीरानन्द

स्वामी अखण्डानन्द का पूर्वनाम गंगाधर गंगोपाध्याय था। उनके पिता श्रीमन्त गंगोपाध्याय ने संस्कृत पाठशाला में अध्ययन करके 'तर्करत्न' की उपाधि प्राप्त की थी और कुलाचार्य का कार्य करने के कारण वे 'घटक ठाकुर' के नाम से भी जाने जाते थे। ३० सितम्बर १८६३ ई० महालया अमावस्या, शुक्रवार को भावी संन्यासी स्वामी अखण्डानन्द ने जन्मग्रहण किया। निष्ठावान् परिवार में जन्मा बालक गंगाधर बुद्धि के विकास के साथ ही साथ कठोरतापूर्वक जीवन बिताने लगा। उपनयन हो जाने के बाद से उसने स्वयंपाक भोजन करते हुए गीता-उपनिषद् के पठन तथा ध्यान-पूजन आदि में मन लगाया।

सम्भवत: १८७७ ई० के किसी शुभ दिन गंगाधर ने अपने बाल्यमित्र हरिनाथ (स्वामी तुरीयानन्द) के साथ वागवाजार के दीनानाथ वोस के मकान पर श्रीरामकृष्ण का प्रथम बार दर्शन किया था। तदुपरान्त १८८३ या १८८४ ई० की गर्मियों में उसने दक्षिणेश्वर जाकर ठाकुर का समीप से प्रत्यक्ष दर्शन किया। अप्रत्यक्ष शिक्षा के साथ-साथ गंगाधर को प्रत्यक्ष रूप से शिक्षा पाने के भी काफी सुयोग मिलते थे।

एक दिन जव गंगाधर ध्यान करके लौटे तो ठाकुर ने उनसे पूछा, "ध्यान एवं प्रार्थना करते-करते तेरी आँखों में पानी आया था क्या?" गंगाधर ने उत्तर दिया, "आया था।" ठाकुर प्रसन्न होकर वोले, "प्रार्थना कैसे करनी चाहिए, जानता है?" और छोटे वच्चे के समान हाथ-पैर पटकते तथा जोर से रोते हुए कहने लगे, "माँ मुझे ज्ञान दे, भक्ति दे। मैं और कुछ भी नहीं चाहता माँ! मैं तुम्हें छोड़कर नहीं रह सकता माँ!" मानो एक छोटा बच्चा रो रहा हो। ठाकुर ने गंगाधर को यह भी समझाया, "अनुताप के अश्रु नेत्र के कोने (नाक की ओर) से निकलते हैं और प्रेमाश्रु नेत्र के छोरों से निकलते हैं।"

इसके बाद गंगाधर ने सीखी स्वधर्म निष्ठा। विख्यात थियासॉफिस्ट कर्नल अल्काट साहव के कलकत्ता आने पर उस सम्प्रदाय के एक व्यक्ति ने एक दिन ठाकुर को गर्वपूर्वक वताया कि साहब ने हिन्दू धर्म स्वीकार लिया हैं परन्तु ठाकुर इस पर प्रसन्न नहीं हुए, वरन गंगाधर तथा वहाँ उपस्थित अन्य सभी को विस्मित करते हुए नाराजगी के साथ कहा, "उसने अपना निजी धर्म क्यों त्याग दिया?"

एक बार ठाकुर उन्हें दक्षिणेश्वर के कालीमन्दिर के भीतर ले जाकर बोले, "यह देख चैतन्यमय शिव।" इसके साथ ही साथ गंगाधर को अनुभूति हुई-मानो शिव श्वास प्रश्वास ले रहे हों। उस दिन उन्हें मृणमय के भीतर चिन्मय का दर्शन हुआ।

गंगाधर के जीवन के परवर्तीकाल में हम उन्हें परिव्राजक के रूप में पाते हैं, जब कि वे सत्य-शिव-सुन्दर की खोज में हिमालय, तिव्वत, राजपूताना आदि अंचलों में भ्रमण कर रहे थे। वराहनगर मठ की स्थापना के बाद "गंगाधर सदैव मठ में आया-जाया करते थे, नरेन्द्र को

आकर देखे बिना वे रह नहीं पाते थे। (वचनामृत, परिशिष्ट) अन्त में एक दिन (फरवरी १८८७ ई० में) वे वैद्यनाथ धाम का टिकट लेकर गाड़ी में बैठे। परन्तु बुद्धदेव के आकर्षण के फलस्वरूप वे वैद्यनाथ धाम में न उतरकर बाँकीपुर होते हुए बुद्धगया जा पहुँचे। वहाँ से वे पैदल ही राजगृह गये और वहाँ से उसी प्रकार बुद्धगया को लौट आये। इस पैदल यात्रा के फलस्वरूप आत्मविश्वास बढ़ जाने से अब से वे प्रायः पैदल ही तीर्थ भ्रमण करने लगे। इस प्रकार निःसहाय गंगाधर महाराज गैरिक वस्त्र पहने उत्तर भारत के अनेक तीर्थों की यात्रा करने के पश्चात् ऋषिकेश पहुँचे। ऋषिकेश की कुटिया में ५ अप्रैल तक रहने के पश्चात् हिमालय के आकर्षण से वे देहरादून और राजपुर होते हुए खाली हाथ मसूरी पर्वत पर चढ़े तथा वहाँ दक्षिण भारत के एक लिंगायत जंगम साधु के मन्दिर में आश्रय लिया। उन्हें अल्पवयस्क देखकर साधु के मन में स्नेह उमड़ आया और वे उन्हें उत्तराखण्ड के पथ के कष्टों के बारे में बतलाने लगे। फिर भी गंगाधर महाराज अडिग रहे। तब उनके पास केवल कम्बल का एक लबादा तथा एक लोई के अतिरिक्त और कुछ भी न देखकर उन्होंने उन्हें धन तथा कम्बल आदि देने की इच्छा व्यक्त की। परन्तु त्यागी गंगाधर ने केवल एक लाठी माँग ली और तीस कोस दूर अवस्थित टिहरी के पथ पर चल पड़े। इस पथ पर नये जूतों का उपयोग करने के फलस्वरूप उनके पैरों में छाले पड़ गये और इस कारण उन्हें कुछ दिन टिहरी में ठहर जाना पड़ा। इस तिक्त अनुभव के बाद उन्होंने लगभग एक वर्ष तक पादुका का बिल्कुल उपयोग ही नहीं किया।

अब तक गंगाधर महाराज तिब्बत तथा हिमालय के आकर्षण से इधर-उधर भ्रमण कर रहे थे। इसके बाद के काल में हम उन्हें स्वामी विवेकानन्द का अनुसारण करते हुए उत्तर तथा पश्चिम भारत में देखते हैं। कश्मीर में ब्रिटिश सरकार के कारण उन्हें परेशान होना पड़ा। इसके बाद स्वामीजी ने उन्हें गाजीपुर आने के लिए आमन्त्रित किया। उसी आह्वान पर कुछ दिन बाद वे कश्मीर छोड़ कर अप्रैल में गाजीपुर पहुँचे, पर तब स्वामीजी वहाँ नहीं थे। वहाँ उनका पवहारीबाबा के साथ साक्षात्कार हुआ। बाबाजी ने उनको यथाशीघ्र स्वामीजी के पास जाने को कहा। परन्तु इसी बीच बीमार पड़ जाने के कारण वे तुरन्त ही मठ रवाना नहीं हो सके। स्वस्थ होने पर जून के प्रारम्भ में वे मेलगाड़ी से हुगली तक आकर, पैसेंजर ट्रेन से बाली आये। ज्योंही वे बाली स्टेशन पर उतरे, त्योंही पुलिस उन्हें पकड़कर हावड़ा ले गयी, परन्तु उनके विरुद्ध कोई प्रमाण न मिलने के कारण उन्हें वराहनगर पहुँचा दिया गया।

मठ में पहुँचकर गंगाधर महाराज ने यथाविधि संन्यास ग्रहण किया और उनका नाम स्वामी अखण्डानन्द हुआ। उनको मठ में बुला लाने के पीछे स्वामीजी का उनके साथ हिमलाय-भ्रमण को निकलने का उद्देश्य भी निहित था। तदनुसार वे दोनों उत्तर भारत के बीच से होकर नैनीताल पहुँचे। इसके बाद का विवरण हम स्वामी अखण्डानन्दजी के मेरठ से दिनांक १४-११-१८९० को लिखे पत्र में पाते हैं। नैनीताल के तालाब में स्नान करने के बाद उनकी बाईं पसली में पीड़ा शुरू हुई जो बहुत दिनों तक बनी रही। इसी अवस्था में वे स्वामीजी के साथ अल्मोड़ा पहुँचे और वहाँ सारदानन्दजी

तथा वैकुण्ठनाथ सान्याल से मिले। स्वामीजी की गंगातट पर निवास करने की इच्छा थी। अतः वहाँ से चारों जन एक साथ कर्णप्रयाग को गये। यहाँ पर भी स्वामी अखण्डानन्द को बुखार आ जाने के कारण तीन दिन तक इन्तजार करना पड़ा। इसके बाद श्रीनगर के पथ पर सलड़काड़ चट्टी में पहुँचकर स्वामीजी तथा अखण्डानन्द को बुखार आ गया। तीन दिन बाद वहाँ से पाँच-छह मील नीचे उतरकर वे एक धर्मशाला में पहुँचे। उस समय बुखार इतना बढ़ गया था कि दूसरे दिन उन्हें डाँडी में श्रीनगर ले जाना पड़ा। यहाँ पर वे लगभग एक पक्ष से अधिक रहे। इसी बीच स्वामी अखण्डानन्द को पुनः बुखार आ गया। सिविल सर्जन को दिखाने पर पता चला कि उन्हें ब्रांकाइटिस हुआ है तथा उनके लिए उतरकर समभूमि में जाना आवश्यक है। तदनुसार वे सब देहरादून को चले। मार्ग में राजपुर में उनकी तुरीयानन्दजी से भेंट हुई। इसके बाद स्वामीजी, स्वामी सारदानन्द तथा स्वामी तुरीयानन्द ऋषिकेष चले गये और स्वामी अखण्डानन्द के साथ केवल सान्याल महाशय रह गये।

ऐसे तपक्लेशों तथा भ्रमणक्लेशों के बीच भी आनन्द की कमी नहीं थी। एक दिन शाम को किसी गाँव में पहुँचकर स्वामीजी को तम्बाकू पिलाने के लिए आग की खोज में अखण्डानन्दजी गाँव के भीतर गये। परन्तु किसी ने भी आग न दी! इस पर सभी लोग थोड़े चिन्तित हो पड़े कि जिस गाँव में आग तक नहीं मिलती, वहाँ भिक्षा का तो सवाल ही नहीं उठता। इस पर अखण्डानन्दजी बोले, ''एक कहावत है-गढ़वाली सरीखा दाता नहीं, लट्ठ के वगैर देता नहीं।'' इस कहावत के अनुसार वे जोर-जोर से चिल्लाकर कहने लगे, ''लकड़ी ले आओ, आग ले आओ।'' देखते ही देखते लकड़ी और आग के साथ ही रोटी, सब्जी, तम्बाकू सब कुछ आ गये।

निःसंग अखण्डानन्दजी स्वामीजी की खोज में अहमदाबाद, आबू, डाकोर, बड़ौदा, भड़ौच, नर्मदा-संगम, जूनागढ़ द्वारका आदि स्थानों का भ्रमण करते हुए कच्छभुज की ओर चले। इस समय स्वामीजी को पाने की उनकी इच्छा उनके अपने ही शब्दों में स्पष्ट रूप से व्यक्त हुई है-''इतनी तलाश करके भी स्वामीजी को न पाने से मेरा आग्रह इतना बढ़ गया कि इन सब तीर्थों में दर्शन आदि किये विना ही मैंने माण्डवी की यात्रा की। वहाँ सुनने में आया कि स्वामीजी नारायण सरोवर को गये हैं। माण्डवी में एक रात विताकर अगले दिन पैदल ही मैं नारायण-सरोवर की ओर चल पड़ा।''

माण्डवी से नारायण-सरोवर जाने का गाड़ी का रास्ता बड़े खतरे से भरा था-चोरी-डकैती तो वहाँ आम बात थी। पैदल मार्ग से जाने में दूरी और जोखिम दोनों कम थी, फिर भी अखण्डानन्दजी ने सोचा कि लम्बे, निर्जन तथा भयावह पथ पर ही आगे बढ़ें। मार्ग में उन्हें एक तीर्थयात्री 'भगत' का साथ भी मिल गया। अखण्डानन्दजी खाली हाथ थे और तीर्थयात्री की थैली में आटा, नमक, तवा-सब कुछ था। रास्ते पर आधी दूरी तय करने के पहले ही चार डकैत आकर सामने खड़े हो गये। उन लोगों ने उनके सामानों

की जाँच शुरू की। इससे भगत तो भयभीत हो गया पर अखण्डानन्दजी अविचल रहे। जब डाकुओं ने देखा कि लेने योग्य उनके पास कुछ भी नहीं है, तो वे लौट चले। तब अखण्डानन्दजी ने अपने कुर्ते आदि की ओर उनका ध्यान आकर्षित करते हुए कहा "अरे, तुम लोग गरीब हो, यह सब ले जाओ।" परन्तु उनमें से एक उनकी चरणधूलि लेते हुए बोला, "दुआ करो महाराज, कपड़े पहन लो।" फिर ओठों पर उँगली रखते हुए संकेत किया कि कुछ भी व्यक्त मत करना। बाद में अखण्डानन्दजी जब नारायण-सरोवर पहुँचे तो वहाँ के महन्त सब कुछ सुनकर बोले, "आपको नया जन्म मिला है। साथ में पाँच रुपये भी रहते तो आपके प्राण न बचते।" इतना कष्ट उठाने पर भी नारायण-सरोवर में पता चला कि स्वामीजी एक अन्य मार्ग से आशापुरी नामक देवीस्थान का दर्शन करने गये हैं। अखण्डानन्दजी जब आशापुरी पहुँचे तो स्वामीजी माण्डवी लौटने के मार्ग में थे। आखिरकार अखण्डानन्दजी माण्डवी में स्वामीजी से मिले। स्वामीजी ने उनसे कहा कि मैं एकाकी रहना चाहता हूँ, अतः तुम मेरा पीछा छोड़ दो। गंगाधर महाराज ने उत्तर दिया, "मैं तुम्हारे कार्य में बाधा नहीं डालूँगा। तुम्हें देखने को मेरा मन व्याकुल हुआ था-वह आकांक्षा मिट गयी है। अब तुम अकेले जा सकते हो।" इसके पश्चात् स्वामीजी भुज गये। अपनी सत्यवादिता का परिचय देने के लिए गंगाधर महाराज एक दिन बाद वहाँ गये और स्वामीजी के साथ एक पक्ष बिताया। इसके बाद पोरबन्दर तक दोनों की भेंट नहीं हुई। पोरबन्दर में स्वामीजी से पुनर्मिलन के पश्चात् अखण्डानन्दजी अकेले ही जितपुर, गोण्डल तथा राजकोट होते हुए जामनगर को गये।

स्वामी अखण्डानन्द के मतानुसार "जामनगर में (उनके, सेवाव्रत का सूत्रपात हुआ, राजपूताना की खेतड़ी में उसकी क्रमोन्नति हुई तथा मुर्शीदाबाद में उसका प्रसार एवं चरम परिणति हुई।" जामनगर में वे वैद्यराज मणिशंकर विट्ठलजी के अतिथि होकर उनके 'धन्वन्तरि-धाम' नामक भवन में तीन-चार महीने रहे। वहाँ पर उन्होंने चरक-संहिता, सुश्रुत-संहिता आदि का अध्ययन पूरा किया तथा धन्वन्तरि-धाम से संलग्न एक वैदिक पाठशाला में वेदपाठ करना सीखा। इसी समय एक ऐश्वर्यपूर्ण मन्दिर में वृद्ध महन्त ब्रह्मचारीजी से उनका परिचय हुआ। ब्रह्मचारीजी ने उन्हें सारी सम्पत्ति लेकर गद्दी पर आसीन होने का अनुरोध किया, परन्तु वैराग्यमूर्ति स्वामी अखण्डानन्द ने उनसे कहा,

"पानी तो चलता भला,
साधु तो रमता भला।
मैं महन्त नहीं बन सकूँगा।"

('श्रीरामकृष्ण भक्तमालिका' खण्ड-२)

विकास ही जीवन और संकोच ही मृत्यु है। प्रेम ही विकास और स्वार्थपरता संकोच है। इसलिए प्रेम ही जीवन का मूलमन्त्र है। प्रेम करनेवाला ही जीता है और स्वार्थी मरता रहता है। इसलिए प्रेम-प्रेम ही के लिए करो; क्योंकि एकमात्र प्रेम ही जीवन का ठीक वैसा ही आधार है, जैसा कि जीने के लिए श्वास लेना। निःस्वार्थ प्रेम, निःस्वार्थ कार्य आदि का यही रहस्य है।

-स्वामी विवेकानन्द

भगवत्–शरण

-ब्रह्मलीन श्रीमत् स्वामी भूतेशानंदजी महाराज

{रामकृष्ण मिशन आश्रम, सरिसा, पं० बंगाल की स्मारिका में प्रकाशित इस लेख का बंगला से हिन्दी में अनुवाद ज्ञानपीठ पुरस्कार विभूषिता, राँची विश्वविद्यालय की डा० श्रीमती ऋता शुक्ला ने किया है। -सं०}

मन को किस प्रकार श्रीप्रभु के चरणों में अर्पित किया जाए, बहुधा यह प्रश्न हमारे सम्मुख रहता है। मन तो सदैव विचलित रहने वाला है, उसे संयत करते हुए ईश्वरोन्मुख करना अत्यंत कठिन कार्य है।

ठाकुर ने सरसों की पोटली का दृष्टांत दिया है। एक बार सरसों के दाने बिखर गए, तो उन्हें दुबारा पोटली में बाँधना दुष्कर होता है। जो लोग प्रयास रत रहते हैं, वे इसे अच्छी तरह जानते हैं कि इस लोक से चतुर्दिक् छुटकारा पाते हुए श्रीभगवान के प्रति चित्त को एकाग्र करना कितना दुरूह है।

अतएव, शास्त्रोक्त कथन है-

यौवन ही धर्मानुशीलन का उपयुक्त काल है। युवावस्था से ही धर्मशील, धर्म प्राण होना उचित है। भगवद्‌विषय चिंतन के लिए आध्यात्मिक उद्देश्य सुनिश्चित करने का यही सर्वोत्कृष्ट समय है। किंतु यह युवाकाल अन्य भावेन् शेष हो जाता है। वैभवप्रियता, लौकिक महत्त्वाकांक्षा, यशोलाभ के नानाविध प्रयत्न-

ऐसे ही कट जाता है समग्र यौवनकाल!

तत्पश्चात्?

ठाकुर ने कहा है-मन की समस्त तेजस्विता लुप्त हो जाने के पश्चात् और किया ही क्या जा सकता है? स्वामी ब्रह्मानंद की उक्ति है-तीस वर्षों के भीतर सारे कार्य संपूर्ण होने चाहिए। जिन्होंने यह अवधि पार नहीं की, उनके लिए तो यह संवाद उत्साह जनक है किन्तु उस अवधि-सीमा के पार पहुँच गए व्यक्तियों का क्या होगा? उनके लिए तो यह एक भयानक सत्य है न! जो वक्त चला गया, वह लौट कर आने वाला नहीं है।

शंकराचार्य का एक स्तोत्र है-

अस्सी वर्ष की आयु पूरी हो चुकी, अब महिषराज की घंटा-ध्वनि से मेरे प्राण काँपते हैं। महिप को यमदेव का वाहन कहा जाता है। उसकी घंटा-ध्वनि का अर्थ ही है-

सम्मन आ गया!

अतएव, उस मरण-भय से अस्थिर हुए प्राणों को भगवान की ओर संलग्न किस प्रकार किया जा सकता है? यौवनकाल में जो उत्साह लेकर मनुष्य साधना पथ की ओर बढ़ सकता है वही उत्साह प्रौढ़त्व या वार्धक्य में नहीं रहता न, तरुणाई की शारीरिक मानसिक ऊर्जा तबतक निःशेष हो चुकी होती है।

तथापि, अल्पायु में अध्यात्म ज्ञान की आकांक्षा बहुत कम लोगों में देखी जाती है। तो फिर युक्ति क्या है? इस प्रश्न का उत्तर गीता में निहित है-

अंतकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥
(८-५)

अंतकाल में जो मेरी चिंता करते हुए देह त्याग करते हैं, वे ही मेरा भाव, अर्थात् मोक्ष-लाभ करते हैं, इसमें कहीं कोई संशय नहीं!

तो क्या, अभी उस भाव अर्थात् प्रभु की कोई आवश्यकता नहीं, केवल अंतकाल में ही उसकी आवश्यकता होगी-

एक दृष्टांत है-

चोर सेंधमारी करके एक घर में घुसा। उसे पता था कि पासवाले कमरे में सोने का ताल था, वह क्या वहाँ सो पाता, उसके प्राण तो इस छटपटाहट में थे कि किस प्रकार दीवार तोड़कर सोने का ताल हथिया लिया जाए। ईश्वर यदि सहज काम्य होंगे, तो सोने के इस ताल से भी अधिक उनकी काम्यता होगी। इच्छा होते ही उन्हें पा लिया जाए, ऐसा विकल भाव जग जाए तो प्राण उसे पाने के लिए व्यग्र होंगे ही।

ठाकुर की वाणी है-

है, होगा-ऐसा कहने से कभी कुछ नहीं होता। तीव्रतम आकांक्षा नहीं होने से वह कब प्राप्त होगा-यह कहना अनिश्चित है। हाँ, यह कहना ठीक है कि जिस प्रकार से भी हो; जितनी भी चेष्टा की जाए, चाहे वह सामान्य ही क्यों न हो; कभी व्यर्थ नहीं होती। ठाकुर ने कहा-यदि कोई उसकी ओर एक पग भी बढ़ाता है, तो वह विफल नहीं हो सकता। प्रश्न यह है कि यदि उसे पाने की महती आवश्यकता का बोध है तो क्या श्लथ भाव से संसार के सभी कार्य पूरे कर लेने के बाद उसे पुकारा जाएगा?

यदि कोई अल्पायु में ईश्वर का नाम लेता है तो दूसरे कहते हैं-

यह सब करने की उम्र अभी ही है क्या? भगवद् भजन शेषकाल में करना। शेषकाल-यानी, जब और कुछ करने की सामर्थ्य नहीं हो। मनुष्य जब नितांत अक्षम जड़ वस्तु में परिणत हो जाए-तब प्रभु को पुकारने का उचित समय होगा? इसका अर्थ यह हुआ कि ईश्वर के प्रति हमारा आग्रह नहीं है। जो यह बोलते हैं कि शेषकाल में करना, उनका मन कभी ईश्वरोन्मुख होगा, इसकी संभावना कम है। बल्कि अर्पण करना हो तो मन को अभी ही करना होगा; अन्यथा कभी नहीं।

ठाकुर का दृष्टांत है-

मिट्टी काटकर भीतर की गहराई से जल निकालना होगा। थोड़ा-सा काटते ही स्त्री आकर बोलेगी-

स्नान करके कुछ खा लो, फिर होगा!

समय निकल गया, तो कभी भी जल नहीं आ सकता।

एक अन्य व्यक्ति मिट्टी काट रहा है। उसकी पत्नी आकर कहती है-

खाने चलो!

उसने कहा-अभी कैसे जाऊँगा? जबतक जल नहीं आ जाता, मैं नहीं जाने का!

दुबारा स्त्री ने आकर पूछा-

आज ही कार्य पूरा करना होगा, ऐसी बात है क्या?

कृषक कुदाल लेकर उसे मारने दौड़ा-

देख रही हो, माटी सूखती जा रही है। अनाज के अभाव में सब मरेंगे! आज पानी आ जाने के बाद ही मैं नहाना-खाना करूँगा।

तभी जल आ गया। जिस समय जल कल-कल ध्वनि करता हुआ खेत में फैलने लगा, कृषक ने शुभता की साँस ली और कहा-तेल ले आओ! अब मैं स्नान करूँगा।

भगवान के लिए तीव्र आकांक्षा इसी तरह की होती है। ऐसा आवेग नहीं होने से साधन पथ पर अग्रसर नहीं हुआ जाता। एक-एक पग बढ़ा कर वहाँ पहुँचना होता है। इसमें अनंत काल लग जाता है। अनंत काल तक उसकी (ईश्वर) की प्रतीक्षा करनी होती है।

शांतिराम की कथा है-

भगवान को वह कब पाएगा?

जो इमली के वृक्ष तले वास करता है। उसे यह जानना है कि इमली के वृक्ष में जितने पत्ते होते हैं, उतने जन्मों में भगवान को पाया जाता है। यह सुनते ही वह आनंद विभोर हो नाच उठा-

शांतिराम, तुम बिगुल बजाओ
स्वर्ग लोक में आनंद पाओ।

ध्यानस्थ हुए उस साधु के चारों तरफ बाल्मीक बन गई। उससे जब यह कहा गया कि आपके तो अभी तीन जन्म कटने बाकी हैं तो वे हताश होकर धैर्य खो बैठे। इसका अर्थ यह हुआ कि तीन जन्म काटने का साहस उसमें नहीं था।

दो ही वस्तुओं की आवश्यकता होती है-एक, ईश्वर प्राप्ति की तीव्र आकांक्षा, जितनी है, उससे और अधिक पाने की इच्छा।

दूसरा, धैर्य धारण!

साधु को तीन जन्मों का धैर्य नहीं था, इसलिए वे योग भ्रष्ट हुए और शांतिराम से कहा-इस इमली के वृक्ष में जितने पत्ते हैं, उतने ही जन्म लगेंगे।

साथ ही साथ वे आनंद विभोर हो उठे और ईश्वर के दर्शन हुए।

किन्तु, इतने सारे जन्म हुए किस प्रकार? इसका उत्तर है-

समय जीवन से विच्छिन्न वस्तु नहीं। इस जीवन के मध्य ही उसका परिमापन होता है। कोई कम दिनों में ही बहुत कुछ कर लेता है किसी को वह सब करते हुए दीर्घकाल लग जाता है। काल के परिमापन से उसका व्यवहार कैसा है, उस सीमा में कोई कितना सक्षम हो

पाता है, यही मुख्य बात है। यही कारण है कि शांतिराम ने एक मुहूर्त्त में ही ढ़ेर सारे जन्मों का सुफल प्राप्त कर लिया।

भागवत् में है कि गोपियों ने भगवान से प्रेम किया, तब भी उनका कर्म-क्षय किस प्रकार हुआ?

दरअसल, जन्म-जन्मांतर के पाप-पुण्य का भार हमारे साथ-साथ रहता है। ज्ञान हो जाने से, स्वयं को निमित्त मात्र मान लेने से पाप-पुण्य बोध का क्षय हो जाता है। लेकिन गोपियों को यह बोध हुआ नहीं। फिर उनकी मुक्ति किस प्रकार होती?

इसका उत्तर भागवत में है।

प्रभु के वियोग में, प्रभु को नहीं पाकर जो असह्य वेदना उन्हें हुई, उसी दुःखभार के माध्यम से वे समस्त पाप-बोध से मुक्त हो गई। भगवत्प्राप्ति का आनंद विरहोन्माद में इतना तीव्र हुआ कि वे जन्म-जन्मांतर के पाप-पुण्य भार से मुक्त हो गयीं। वे गोपियाँ योगी या ज्ञानी नहीं थी, उन्होंने भगवत्कृपा की अनुभूति प्राप्त की।

ईश्वर के पथ पर आगे बढ़ने का अर्थ ही है निस्सीम पीड़ा से गुजरना। उस दुःख के साथ किसी लौकिक दुःख की कोई कल्पना ही नहीं हो सकती। ठाकुर के जीवन से यह सत्य धारण किया जा सकता है। जब ठाकुर 'माँ नहीं मिली' कहकर माटी पर पछाड़ खाकर लोटने और रोने लगे, तब उस दृश्य को देखकर भीड़ इकट्ठी हो गई-

'आहा, लगता है इस व्यक्ति के पेट में शूल-पीड़ा उठ रही है। इसीलिए इस प्रकार तड़प रहा है।

किंतु वह तीव्र यंत्रणा ईश्वर के लिए थी। सवको इसी यंत्रणा के अनुभव से गुजरना पड़ता है। मनुष्य तीव्र पीड़ा की कल्पना नहीं कर सकता, भक्त को भगवन्मार्ग में उसी पीड़ा का उपभोग करना पड़ता है। भक्त उस पीड़ा का परिहार नहीं करना चाहता, वह तो उसका वरण कर लेता है। साधक के जीवन का यही इतिहास होता है। विषय भोग से उत्पन्न आनंद ईश्वरीय आनंद का क्षुद्र अंश मात्र होता है। लेकिन साधक केवल आनंद लाभ नहीं चाहता। ईश्वर-प्राप्ति का संकल्प उसके मन में हमेशा रहता है।

अनेक कहते हैं-मन में बड़ी अशांति है। यह अशांति ईश्वर जनित नहीं होती, कामना और विषय-वासना की आशांति होती है। लोग सोचते हैं-भगवान की ओर पग बढ़ाने से वे सबकुछ देगे, प्रत्येक इच्छा की पूर्त्ति कर देंगे, अर्थात् भगवान यहाँ युक्ति मात्र हैं, लक्ष्य नहीं। हम उन्हें नहीं चाहते, उनकी सहायता से भोग चाहते हैं। यह भक्तों की बात नहीं, भोग-विलास में रत प्राणियों की सच्चाई हैं।

यं लब्धाचापरं लाभं मन्यते नाऽधिकं तत्

जिसको प्राप्त कर लिया, उससे बड़ा लाभ कोई नहीं होता।

वे ही हमारे एकमात्र गम्य हैं। एकमात्र प्राप्य वस्तु हैं। हम उन्हें ही चाहते हैं, परिणाम में दुःख मिले या आनंद, इसकी कोई परवाह नहीं। इसे कहते हैं भगवान के प्रति सच्चा प्रेम।

उनको अपना कहने की इच्छा हुई हो। आत्मा की भी आत्मा मान कर जानने की इच्छा हो, यही प्रेम अहैतुकी प्रेम कहलाता है। इसका उदाहरण भागवत् में दिया गया है।

आत्मारामश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे
कुर्वन्त्यऽहैतुकी भक्तिं मित्थं भूतगुणो हरिः

(भागवत १-७-१०)

जो बंधनमुक्त हैं, उनकी आत्मा ही इस प्रकार का आनंद पा सकती है। समस्त मुनिजन कामना रहित होकर अहैतुकी भक्ति करते हैं। श्रीहरि का वैशिष्ट्य यही है कि सकाम या निष्काम-सभी मनुष्य उनकी आराधना करना चाहते हैं। इस भक्ति का कोई लौकिक प्रयोजन नहीं होता, आनंद-लाभ के लिए भी यह प्रीति नहीं होती। वे ईश्वर हैं इसलिए उनसे प्रीति है। वे हमारी आत्मा हैं, आत्मा को छोड़कर एक मुहूर्त्त भी रहा नहीं जा सकता। इसी प्रकार क्षणमात्र भी ईश्वर से दूर नहीं रहा जा सकता। उसे पाने के लिए जो भी कष्ट हों उन्हें ही भक्त की भावनानुभूति कहा जाता है। भक्त ईश्वर का वरण करते हैं। जिस प्रकार इस गीत में है-

कोटि जन्मों में है जितना भी अश्रुपात
सफल करने आए हो बोलो है नाथ।

दुःख को कौन पसंद करता है? लेकिन

वह दुःख, जो भगवान के निकट ले जाता है, उन्हें प्राप्त करने की युक्ति देता है, तो ऐसे शतसहस्र दुःखों का स्वागत है। कुंजी की तरह बोला जाए, तो कुछ इस प्रकार होगा-

सुख में तुम्हें भूल जाती हूँ। इसलिए प्रभु, तुम मुझे दुःखों की परंपरा के बीच रखो ताकि सदा सर्वदा तुम्हारा स्मरण कर सकूँ।

हम जैसे साधारण मनुष्य क्या करें? भगवान का नाम लें और कहीं कुछ अघटनीय लगे तो बोल उठें-

ईश्वर की इतनी गुहार लगाई, तब भी ऐसा हुआ? अर्थात् ईश्वर को पुकारने से ऐसी कोई चीज होनी नहीं चाहिए। भगवान जीवन-पथ को कोमल कर दें, तो हम अनायास उस पर चल पड़ें। यह भगवान की कामना नहीं, सुख की कामना है।

यह संसार नश्वर और दुःखमय है। बाहरी तौर पर जो सुख का कारण प्रतीत होता है, सूक्ष्मता पूर्वक देखने से वही दुःख का कारण हुआ करता है। जितना अधिक सुख मिलता है, उसके पश्चात् यह देखने की इच्छा होती है कि दूसरा मेरे समान सुखी है या मुझसे अधिक सुखी है? इस प्रकार वह सुख उपभोग्य नहीं रह जाता। आज जो सुख है कल वह रहेगा भी, यह भी निश्चित नहीं कहा जा सकता। जो विचारशील हैं, वे जानते हैं कि आज जो सुन्दर लग रहा है, कल वही असुंदर प्रतीत होगा।

इन सारे संदर्भों पर विस्तार पूर्वक कुछ कहा जाए तो मन में एक वितृष्णा आएगी जो उद्वेग जनित नहीं रहेगी किंतु समस्त तृष्णाओं को नियंत्रित करते हुए ईश्वरोन्तुख बनाने के लिए होगी। अन्य तृष्णाएँ दूर हो जाएँ, इसीलिए इस प्रसंग की अवधारणा है। जगत का विश्लेषण करते हुए इस असारता को ठाकुर ने अनेक स्थानों पर दिलाया है। शास्त्रों में भी इस संबंध में विस्तार से समझाने की चेष्टा की गई है, लेकिन फल क्या मिला है? लौकिक तत्त्वों के लिए ललायित लोग इस सत्य को समझेंगे?

प्रतिदनि देखता हूँ, सब कुछ विनष्ट होता जा रहा है-तब भी सोचता हूँ-मैं ठीक रहूँगा। जो मेरे हैं, वे भी ठीक रहेंगे। मन की ऐसी धारणाओं का कोई हेतु नहीं, इनके परि-पोषण का कोई हेतु नहीं। संपूर्ण विश्व पल-पल क्षरित हो रहा है। जब भी यह सोचना कि मैं ठीक हूँ जो तेरे हैं, वे भी ठींक रहेंगें।

क्या यह संभव है? यदि नहीं, तो आघात प्रत्याघात में जो भी विश्वास है, उसे खो कर कोई यह कहे कि भगवान नहीं हैं! होते, तो ऐसा नहीं होता। एक सहज सिद्धांत हो गया है कि वे नहीं हैं। इसका कारण यह है कि हम भगवान को नहीं चाहते, केवल सांसारिक सुख चाहते हैं। वह सुख स्थायी रहे, इसी की आशा करते हैं। एक श्लोक बारबार मन में जगता है-

आयुर्नश्यति पश्यतां प्रतिदिनं याति क्षयं यौवनम्
प्रत्यायान्ति गताः पुनर्नदिवसा कालो जगत भक्षकः!
लक्ष्मीस्तोय तरंग मंग विद्युत चलं जीवितम्
तस्मात्वं शरणदरक्षमाम रक्षाधुना

हे शरणदायी प्रभु, मैं तुम्हारा शरणापन्न हूँ। मेरी रक्षा करो!

क्यों बोलते हो ऐसा?
क्या मैं विपन्न हूँ-
निश्चय विपन्न
क्यों?

प्रतिदिन, देखते-देखते उम्र बीतती जा रही है। जो दिन विगत होते जा रहे हैं, वे लौट कर आने वाले नहीं! काल समस्त जगत को अपना ग्रास बनाता जा रहा है।

जल-तरंगें प्रतिपल उठती है और विलीन हो जाती हैं, लौकिक ऐश्वर्य की यही दशा है-

अभी है, अभी नहीं है। जीवन विद्युत रेखाओं की तरह चंचल, क्षणस्थायी है, इसीलिए मैं तुम्हारे शरणागत हूँ। इन सब भोगों की ओर मैं नहीं जाता। मैं जानता हूँ इनमें कल्याण नहीं है! इसीलिए हे प्रभु, मेरी रक्षा करो। लौकिकता के पीछे जाकर मैं तुम्हारा विस्मरण न कर सकूँ।

यह हुई भक्त की प्रार्थना!

हम भी यही प्रार्थना करते हैं, ताकि वे प्रभु हमारी जीवन-रक्षा करें, लौकिक सुख विधान हेतु नहीं, अपनी आत्मा को शुद्धात्मा बनाने के लिए।

संस्मरण

श्रीरामकृष्ण के अन्तरंग शिष्य

-श्रीमत् स्वामी रंगनाथानन्दजी महाराज

{श्रीमत् स्वामी रंगनाथानन्दजी महाराज रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन के परम अध्यक्ष हैं। प्रस्तुत आलेख उनके द्वारा रविवार, १८ दिसम्बर १९९५ को बेलुड़ मठ में संन्यासियों के सम्मेलन में दिये गये व्याख्यान का मूल पाठ हैं जो मद्रास से प्रकाशित 'बेदान्त केसरी' के जनवरी १९९८ अंक में मुद्रित हुआ है: व्याख्यान की महत्ता को ध्यान में रखकर इसका हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया जा रहा है।}

अनुवादक हैं—डॉ० केदारनाथ लाभ

बन्धुओ,

आज हमलोग अपने प्रेसिडेण्ट महाराज और उनके संदेश से वंचित हैं। हमलोग उनकी अनुपस्थिति की थोड़ी-सी क्षतिपूर्ति श्रीरामकृष्ण के कुछ अंतरंग शिष्यों की चर्चा कर के करेंगे जिनसे मिलने और बातें करने के अवसर मुझे उपलब्ध हुए थे तथा जिनसे मैंने प्रेरणाएँ प्राप्त की हैं।

सर्वप्रथम मुझे रामकृष्ण संघ के द्वितीय अध्यक्ष स्वामी शिवानन्दजी महाराज, जो लोगों में आदर से महापुरुष महाराज के नाम से ख्यात हैं, का स्मरण हो रहा है। मैं केरल राज्य के त्रिस्सुर नगर से दस किलोमीटर दूर त्रिक्कुर नामक गाँव में रहता था। त्रिक्कुर में मेरा घर मनाल्ली नदी के तट पर स्थित है और मेरे घर के पूरब करीब आधा किलोमीटर दूर एक पहाड़ी पर एक प्राचीन चट्टान की गुफा में शिव का मन्दिर है। उन दिनों मैं त्रिक्कुर से पाँच किलो-मीटर दूर त्रिस्सुर-मार्ग पर स्थित ओल्लुर के उच्च विद्यालय में आठवीं कक्षा में पढ़ता था। मेरे एक सहपाठी ने त्रिस्सुर के विवेकोदयम् हाई स्कूल के पुस्तकालय से एक पुस्तक लायी। क्या तुम यह पुस्तक पढ़ना चाहोगे?-उसने मुझे पूछा। बिना जाने, हुए कि यह कौन-सी पुस्तक थी, मैंने उत्तर दिया-'हाँ, मैं इसे पढ़ना चाहूँगा।' यह पुस्तक थी श्री'म' लिखित और मद्रास मठ द्वारा प्रकाशित 'द गॉसपेल ऑफ श्रीरामकृष्ण' (श्रीरामकृष्ण वचनामृत)। उसने वह पुस्तक मुझे दी। मैंने इसे पढ़ना शुरू किया। इसने मेरे ध्यान को आबद्ध कर लिया और मैं तब तक नहीं रुका जब तक मैंने अनवरत रूप से एक सौ पृष्ठ नहीं पढ़ डाले। बाद में मैंने संपूर्ण पुस्तक पढ़ी। इसके बाद उस त्रिस्सुर के पुस्तकालय से ठाकुर स्वामीजी विषयक अन्य पुस्तकें आयीं।

यह सन् १९२४ ई० की बात है। मेरी उम्र मात्र साढ़े पन्द्रह वर्ष की थी और मैं रामकृष्ण संघ में सम्मिलित होने के अवसर की प्रतीक्षा कर रहा था। १९२६ ई० में अपनी स्कूल की पढ़ाई समाप्त करने और अंतिम परीक्षा दे देने के उपरान्त आशुलेखन और अंकण (शॉर्ट हैण्ड एवं टाइप राइटिंग) सीखने के लिए मैं त्रिस्सुर के एक टाइपराइटिंग इंस्टिट्यूट (टंकण संस्थान) में दाखिल हुआ। कुछ शुल्क देने थे। मैंने अपने घर से तीन रुपये लिये और त्रिस्सुर आया। वहाँ से मैंने मद्रास मठ को पत्र लिखा कि मैं रामकृष्ण मिशन में सम्मिलित होना चाहता हूँ। एक ब्रह्मचारी ने

उत्तर दिया–''यहाँ पर्याप्त कमरे नहीं हैं। मैसूर में एक नया केन्द्र है; उसे ब्रह्मचारी की आवश्यकता है। इसलिए कृपया वहाँ के प्रभारी स्वामी, स्वामी सिद्धेश्वरानन्दजी को लिखिए।''

अतएव, मैंने स्वामी सिद्धेश्वरानन्दजी को मैसूर पत्र लिखा। तथापि इसी समय सिद्धेश्वरानन्दजी स्वयं अपने परिवार के लोगों से मिलने त्रिस्सुर आये। उनके पिताजी कोचीन राज्य के द्वितीय राजकुमार थे। मैंने महाराज से भेंट की। उन्होंने कहा, 'हाँ, तुम आ सकते हो। क्या तुम्हारे पास ऊटी होते हुए मैसूर जाने के लिए यथेष्ट पैसे हैं?'' मैंने कहा–''मेरे पास मात्र तीन रुपये हैं, अधिक नहीं है।'' लेकिन मेरे पास मेरे कान की बाली थी। केरल में लड़के भी बालियाँ पहनते थे। मैं इन्हें बाजार में बेच सकता था, किन्तु उस दिन रविवार था। कोई दुकान खुली नहीं थी। परन्तु एक व्यक्ति ने मुझे दो रूपये दिये और सिद्धेश्वरानन्दजी ने भी मुझे दो रुपये दिये। इस तरह मेरे पास अब सात रुपये थे। किन्तु ऊटी होते हुए मैसूर जाने के लिए ये रुपये पर्याप्त नहीं थे। उस दिन ८.३० बजे रात की गाड़ी से सिद्धेश्वरानन्दजी के साथ मैं कैसे ऊटी जा सकता था? मैं मन ही मन बहुत उद्विग्न था। मैं जाने के लिए पूरी तरह प्रतिबद्ध नहीं था, किन्तु मैं जाने को काफी इच्छुक भी था। ऐसा मेरा मानसिक संघर्ष था। और उस समय मैं बिल्कुल अल्पवयस्क था–मात्र साढ़े सत्तरह वर्षों का। त्रिस्सुर के विवेकोदयम् हाई स्कूल में स्थित श्रीरामकृष्ण के मन्दिर में ठाकुर की कृपा प्राप्त करने के उद्देश्य से मैं प्रार्थना करने गया। मैं उस मन्दिर में प्रार्थना करने के लिए अक्सर अपने घर से पुष्प ले जाया करता था। अपने वैराग्य एवं सिद्धेश्वरानन्दजी के साथ मैसूर के लिए प्रस्थान करने के लिए आँसू भरे नेत्रों से मैंने ठाकुर से प्रार्थना की। सत्तर वर्षों के बाद, अब भी, उस मन्दिर में घटी उस घटना की स्मृति मुझे आलोड़ित कर देती है।

तब, अन्तिम क्षण में, मैं सिद्धेश्वरानन्दजी के घर गया। वे रेलवे स्टेशन के लिए प्रस्थान करने को तैयार थे। उन्होंने कहा, 'ठीक है, आज ८.३० बजे रात की गाड़ी से मेरे साथ ऊटी चलो।' मैं दीक्षा के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जानता था। मैं मिशन में सम्मिलिज होना चाहिता था, और मैंने ठाकुर एवं स्वामीजी से सम्बन्धित कुछ पुस्तकें पढ़ी थीं एवं श्री माँ सारदा देवी का स्तोत्र 'प्रकृतिं परमाम्' को कंठस्थ कर लिया था। मिशन में अपना जीवन समर्पित करने को मुझे उत्प्रेरित करने के लिए इतना काफी था। इस तरह ८.३० बजे रात में हमं गाड़ी में सबार हुए और अगली सुबह गाड़ी ऊटी पहुँची। ऊटी समुद्र तल से प्रायः छः हजार फीट की ऊँचाई पर है। सिद्धेश्वरानन्दजी, जो गोपाल महाराज के नाम से सुपरिचित हैं, मैं और तीन छात्र उस दल में थे। महापुरुष महाराज उन दिनों ऊटी में, जिसे वे बहुत पसन्द करते थे, एक किराये के मकान में रहते थे। वर्तमान ऊटी आश्रम उस मकान के निकट-स्थल में निर्मित हो राहा था और १९२७ ई० में उसका उद्घाटन होने वाला था। मुझे महापुरुष महाराज के आवास-भवन में ठहरने और जलपान करने की अनुमति प्रदान की गयी थी। लेकिन भोजन बाहर के एक होटल मैं करना था। उन दिनों आश्रम में इतने अधिक लोगों को भोजन कराने की व्यवस्था नहीं थी। सो, मेरे पास जो पैसे थे, उनसे मैं बाहर में भोजन करता था। जब ऊटी में मैंने एक सप्ताह व्यतीत किया, मेरे पास के पैसे समाप्त हो गये। २५ जून १९२६ को मैंने ऊटी के लिए त्रिस्सुर से प्रस्थान किया था और ३० जून को

महापुरुषजी द्वारा मुझे दीक्षा प्रदान की गयी।

मैंने उस कमरे में प्रवेश किया जिसमें महापुरुष महाराज धर्मानुष्ठान के लिए वैठे थे। उनकी वायीं ओर मेरा असान था। मैं वैठ गया और समग्र दृश्य को देखा। तव मेरे मानस में वह स्वप्न उभर आया ज़िसे मैंने तीन-चार वर्ष पूर्व देखा था। मैं नियमित रूप से अपने गाँव के चट्टानी-गुफा-मन्दिर में शिव की पूजा किया करता था। उस स्वप्न में मैं ऊँचे आकाश में उठा दिया गया था; फिर मैं एक सुन्दर स्थान में पहुँचा। वहाँ एक वृद्ध श्रद्धास्पद दिखने वाले व्यक्ति वैठे थे और मेरे मन ने उन्हें शिव के रूप में पहचाना था। उन्होंने मुझे अपनी वायीं ओर वैठने को कहा और कुछ आध्यात्मिक उपदेश दिये। यही स्वप्न था और ऊटी के उस विशेष स्थान में मैंने उस स्वप्न की हू-ब-हू पुनरुत्पत्ति पायी। महापुरुष महाराज ने मुझ से पूछा, 'क्या तुम श्रीरामकृष्ण की उपासना करते हो?' मैंने कहा, 'नहीं, मैं वस्तुतः उपासना नहीं करता, लेकिन मैं उनका एक चित्र रखता हूँ और उसे नियमित रूप से प्रणाम करता हूँ।' और उन्होंने कहा, 'यह काफी है।' तब उन्होंने मुझे मंत्र दिया और मुझे पूछा, 'क्या तुम कुछ गुरु दक्षिणा लाये हो?' 'कुछ नहीं'-मैंने कहा। मात्र एक कमीज, एक धोती और एक तौलिया-इतना ही सामान मैंने घर से लाया था। उन्होंने अपनी दायीं ओर से दो या तीन आम लिये और उन आमों को मुझे दिया और कहा-'अव इन्हें गुरु दक्षिणा के रूप में मुझे वापस करो।' मैंने उन आमों को उन्हें अर्पित किया, उन्हें प्रणाम किया और कमरे से वाहर निकल आया।

दो दिनों के उपरान्त, २ जुलाई को, मैसूर जाने के लिए हमलोगों को महापुरुष महाराज से विदा लेनी थी। स्वामी सिद्धेश्वरानन्द और मैं उनके कमरे में ५.३० बजे प्रातः उनसे विदा लेने गये। वे एक कुर्सी पर बैठे हुए कुछ मुद्रा के नोट गिन रहे थे। गोपाल क्या तुम कुछ रुपये चाहते हो? मैं तुम्हें दे सकता हूँ।'-उन्होंने कहा। गोपाल महाराज ने कहा, 'नहीं महाराज, आवश्यक नहीं है।'-यद्यपि मैसूर आश्रम उन दिनों वड़ा निर्धन था। मैंने अपने गुरु को प्रणाम किया। महापुरुष महाराज ने मुझे कहा-'हाँ, तुम मैसूर जाओ। गोपाल की सेवा करो।' मात्र यही एक सन्देश उस समय उन्होंने मुझे दिया। 'गोपाल की सेवा करो।' गोपाल महाराज की सेवा मैंने नौ वर्षों तक मैसूर और तीन वर्षों तक वंगलोर में निरन्तर की। वे पवित्र, दयालु और प्रेममय थे। हम तभी अलग हुए जव वे १९३८ ई० में वेदान्त सेन्टर की स्थापना करने पेरिस गये। महापुरुष महाराज से विदा लेकर ७ बजे सुबह की बस से हम चले और ८ बजे रात में मैसूर आश्रम पहुँचे। मेरी ऊटी-मैसूर यात्रा में मैसूर आश्रम के द्वारा सात रुपये व्यय लिये गये थे जिसका उल्लेख मैंने बाद में देखा।

पहली बार मैंने बिजली बत्तियों एवं अन्य सारी वस्तुओं से युक्त एक बड़े शहर को देखा। एक ग्रामीण लड़के की हैसियत से, मैं शहरी जीवन के बारे में कुछ नहीं जानता था। यहाँ तक कि डाकखाने में चिट्ठी कैसे छोड़ी जाती है, चेक कैसे भुनाया जाता है आदि भी नहीं जानता था। उस रात ८ बजे, अपने जीवन में पहली बार मुझे भोजन के लिए एक ग्लास दूध और दो रोटियाँ एक लड़के द्वारा दी गयीं जो भिक्षान्नम् छात्र के रूप में आश्रम में रह रहा था। आज से सत्तर वर्ष पूर्व आश्रम में दिया गया उस रोटी और दूध के प्रथम भोजन का स्वाद मुझे अव भी याद है। यह घटना २ जुलाई १९२६ ई० की है। ३ जुलाई को मेरे लम्बे वाल काटे गये और मेरे कानों के कुण्डल

निकाल दिये गये।

तदुपरान्त, ४ जुलाई को, मैंने आश्रम के रसोई घर में प्रवेश किया। चूँकि आश्रम की आय अत्यल्प थी इसलिए कोई सवैतनिक रसोइया वहाँ नहीं था। घटिया भोजन के कारण सिद्धेश्वरानन्दजी का स्वास्थ्य खराब था। मैं एक अच्छा रसोइया था। बारह वर्ष की उम्र से ही चौदह वर्ष की उम्र तक अपने घर में पूरे परिवार के लिए रसोई बनाने का मुझे दो वर्षों का अनुभव था। इसलिए उस दिन से मैसूर आश्रम का प्रत्येक व्यक्ति अच्छा भोजन पाने लगा। अगले छः वर्षों तक मैसूर आश्रम में रसोई बनाने थाली-धोने और घर-बार देखने का काम करता रहा। मासिक चंदा उगाहने, बागवानी करने तथा कुछ अन्य कार्य भी बाद में मेरे जिम्मे लगा दिये गये। जब भी मैं लोगों से चंदे के लिए अनुरोध करता, स्वामी विवेकानन्द के विषय में चर्चा करता। वे प्रसन्न होते और मुझे चाय तथा नाश्ता दिया करते और कभी-कभी आश्रम के लिए भी कुछ वस्तुएँ दिया करते। इस प्रकार मेरा जीवन, कार्यों के बीच में प्रचुर अध्ययन भी करते हुए, बीतने लगा। मैंने भी अध्ययन या जप-ध्यान के लिए समयाभाव की कभी शिकायत नहीं की। मैं सदैव खुश और प्रसन्न रहता था। मैं किसी भी और हर प्रकार के कार्य को ठाकुर की सेवा के रूप में करने में आनन्द का अनुभव करता था। मैंने कभी किसी थकान का अनुभव नहीं किया। मैं आश्रम के अखाड़े में छात्रों के साथ कुश्ती लड़ता और बाद में वॉली-वॉल खेलने लगा।

१९२६ में मेरी ब्रह्मचर्य-दीक्षा का समय आया। सो, मार्च १९२६ में मैं बेलुड़ मठ आया। मेरा ब्रह्मचर्य बुद्ध के जन्म दिवस, २३ मई, को हुआ। उस समय लगभग चार महीने मैं बेलुड़ मठ में ठहरा। महापुरुष महाराज पुराने मन्दिर के पीछे वाले कमरे में आये और कमरे में चल रहे धर्मानुष्ठान की ओर मुख किये सस्मित-वदन बरामदे में बैठ गये। हमलोग पाँच या छः ब्रह्मचारी थे। उन्होंने मेरा नामकरण किया-यतिचैतन्य।

बेलुड़ मठ में मेरे ठहरने के दौरान परम स्मरणीय अनुभव थे नाश्ते के बाद, महापुरुष महाराज के कमरे में कभी-कभी एक घंटे से अधिक देर तक चलने वाले दैनिक प्रातःकालीन सत्र। संन्यासी टोलियों में आते और उन्हें भूमिष्ठ हो प्रणाम करते तथा एक किनारे खड़े हो जाते। वे अपनी चारपाई या कुर्सी पर अन्तर्लीन भाव से बैठे रहते। कभी-कभी आगे हुक्का रखा रहता जिससे जब तक अनमने भाव से एकाध कश खींच लेते और वहाँ उपस्थित संन्यासियों तथा नये शिष्य से शिष्टाचार की कुछ बातें कर लिया करते थे। जब उनकी अन्तर्लीन मुद्रा में थोड़ी शिथिलता आती तब जो उपस्थित रहते उनसे विभिन्न विषयों पर बात-चीत करते जिसमें हास-परिहास का पुट रहता, जो श्रीरामकृष्ण और उनके शिष्यों की एक खास प्रीतिकर विशेषता है। कभी-कभी वह बातचीत गम्भीर आध्यात्मिक विषय में बदल जाती और जो लोग उस समय वहाँ उपस्थित रहते वे उनके मुख से निःसृत प्रत्येक शब्द को ध्यान पूर्वक सुनते। इन सब के बीच में, लोग उन्हें गहन भक्ति से आप्लावित स्वर में ऐसे आध्यात्मिक वाक्यांशों का उच्चारण करते हुए सुनते, जैसे-सत्-चित् आनन्द शिवम्, जय गुरु महाराज, जय माँ, आदि।

बेलुड़ मठ में उन दिनों मेरे दैनिक कार्यों में एक कार्य था सामने के विस्तृत प्राङ्गण में झाड़ू लगाना। कभी-कभी जब मैं झाड़ू लगाता तो हवा फिर से धूल को पीछे डाल देती। अतः मुझे फिर झाड़ू लगाना पड़ता था। लेकिन इससे

मैं परेशान नहीं होता। मेरे लिए यह एक खेल था। मेरा दूसरा काम था ठाकुर के पूजा-पात्रों को धोना। चाय-घर में, जो वर्तमान मन्दिर की बाईं ओर स्थित था, आश्रम के सदस्यों को चाय पिलाना एक अलग से कार्य था। कुछ अन्य कार्य भी थे, जैसे महापुरुष महाराज के स्नान के लिए लिलुआ के चापाकल से सिर पर ढोकर पानी लाना, उनके कुत्ते के लिए बेलुड़ के बाजार से थोड़ा दही लाना और भोजनालय में खाना परोसना। मैं हर कार्य के लिए प्रस्तुत था। उन दिनों मैं बिल्कुल जवान और अथक उर्जा से परिपूर्ण था। आजकल जहाँ भोजनगृह है उसी के समीप एक कुश्ती का अखाड़ा भी था। महापुरुष जी के सेवक स्वामी अपूर्वानन्द एक अच्छे पहलावन थे। मैंने उनके साथ दो-जीन दूसरे लोगों के साथ उस अखाड़े में कुश्ती लड़ी थी। वहुत से लोग हमलोगों की कुश्ती देखने इकट्ठे हो जाया करते थे। वाराणसी सेवाश्रम से एक रसोइया आया था। वह भी एक अच्छा कुश्तीवाज था। जब उसने मेरा हाथ पकड़ा तो मेरे हाथ की ताकत जाती रही, ऐसी उसकी शक्ति थी, जवकि वह देखने में साधारण-सा लगता था। अखाड़े के समानान्तर ही, जहाँ आजकल उत्सव-समारोहों के अवसर पर मंच खड़ा किया जाता है, ज्ञान महाराज का एक खम्भा गड़ा था। वहाँ मैं थोड़ा-सा खम्भे का व्यायाम किया करता था। मेरे पास हर चीज के लिए समय था। दिन और रात के भोजन को छोड़कर मैं हर समय काफी भूखा रहा करता था। सुवह के नाश्ते में चाय और पावरोटी का एक पतला टुकड़ा मिलता था। रोटी का टुकड़ा छुरे की पत्ती के समान पतला होता था, जिस पर थोड़ा-सा मक्खन लगा रहता था। जहाँ तक चाय का प्रश्न है, सभी अन्तर्वासियों के लिए केवल एक ग्लास दूध और ढेर सारा पानी और चीनी। तत्कालीन महासचिव श्रद्धेय शुद्धानन्दजी, और श्रद्धेय स्वामी विरजानन्दजी एवं अन्य वरिष्ठ स्मामीजीगण भी वहाँ उपस्थित रहते थे और मैं उन लोगों को चाय दिया करता था। अपनी भूख मिटाने के लिए, मठ के बरामदे में एक वड़ी टिन में रखी गयी मूढ़ी निकाल कर अपनी कमीज के आखिरी छोड़ में रख लिया करता था और खूव अधिक खा लिया करता था। अर्थाभाव के कारण भोजन बड़ा घटिया किस्म का बनता था, दाल पानी सी पतली होती थी, लेकिन चर्चरी (बंगाल की एक विशेष सब्जी) और आलूदम स्वादिष्ट हुआ करते थे।

उस समय मैं अनेक वरिष्ठ संन्यासियों से परिचित हुआ। यही वह समय था जव गणेन-संकट आ खड़ा हुआ था। जदुपति स्टेट की देखभाल करने वाले, उद्बोधन में कार्यरत ब्रह्मचारी गणेन्द्रनाथ ने मिशन को चुनौती दी। मिशन एक गंभीर संकट में फँस गया। गणेन रामकृष्ण मिशन के अनेक सदस्यों को प्रभावित करने लगा। कलकत्ते के समाचार-पत्रों पर भी उसका खासा अच्छा प्रभाव था। मुख्यालय ने विभिन्न आश्रमों के स्वामियों को बेलुड़ मठ आने को कहा। जब-तब घंटी बज उठती और साधु- गण समस्याओं पर विचार करने एकत्र हो जाया करते। स्वामी ओंकारानन्दजी नेतृत्व किया करते थे। तब हमलोग प्रस्ताव पारित करते और गणेन्द्रनाथ के विरुद्ध महापुरुष महाराज को अर्पित करते। इस तरह लगातार एक महीने से अधिक समय तक वह संकट का काल चलता रहा। अन्ततः मिशन एसोशियेशन की आम सभा की बैठक शान्तिपूर्वक सम्पन्न हो गयी। गणेन मठ में आया था किन्तु उसने बैठक में भाग नहीं लिया। मैंने उसे बैठक के बाहर लॉन में सिगरेट पीते हुए टहलते देखा।

अनेक स्वामियों को मिशन का सदस्य बनाया गया। उस समय मैं भी मिशन का सदस्य बनाया गया। जुलाई, १९२९ में गणेन समस्या का समाधान उसे स्टेट की व्यवस्था करने के लिए ७५,००० रुपये देकर किया गया। उसने निवेदिता स्कूल की एक महिला शिक्षिका चपला को साथ लेकर संघ छोड़ दिया।

मुख्य मठ-भवन (सीढ़ी के ऊपर) के प्रथम तल की दीवार पर जो समूह-चित्र तुम लोग देखते हो, वह मई १९२९ में मुख्य मठ-भवन और गंगा घाट के बीच स्थित लॉन (मैदान) में विभिन्न शाखा-केन्द्रों से उस समय आये हुए हमारे साधुओं के विशाल जमावड़े को ध्यान में रखकर, खींचा गया था। श्रद्धेय विरजानन्दजी तथा कई अन्य केन्द्रों के प्रधान उस चित्र में हैं। मैं भी उस फोटों में हूँ। महापुरुष महाराज ऊपरी बरामदे में आराम कुर्सी पर वैठे हुए थे। लेकिन फोटो खींचने में देर हो रही थी, अतः वे अपने कमरे में चले गये। स्वामी विविदिशानन्द अमेरिका जा रहे थे। अतः यह फोटो उस अवसर पर उनकी विदाई के रूप में भी थी।

वेलुड़ मठ में चार महीने मैंने वड़ी प्रसन्नता पूर्वक विताये। तत्कालीन, महासचिव, स्वामी शुद्धानन्द जो कभी-कभी मुझ से कहा करते थे, "तुम यहाँ कव तक ठहरोगे? तुम्हें अपने केन्द्र मैसूर जाने का समय हो गया है। बेलुड़ मठ इतने अधिक अतिथियों पर इतना अधिक खर्च नहीं कर सकता।" मैं उत्तर दिया करता, "मैं शीघ्र चला जाऊँगा, मैं शीघ्र चला जाऊँगा" और चार महीनों के पश्चात् मैं मैसूर लौट गया।

१९३३ ई० में मैं फिर वेलुड़ मठ आया। इस वार संन्यास लेने के क्रम में आया था। वह स्वामी विवेकानन्द का जन्म-दिवस था-२३ जनवरी, १९३३ ई०। यह एक भव्य अव था। परन्तु उस समय महापुरुष महाराज कमज हो गये थे और इसलिए पुराने मन्दिर के प वाले कमरे में आयोजित धर्मानुष्ठान में भ नहीं ले सके। वे अपने कमरे में थे। संन्य हवन के उपरान्त, हमलोग, दिवंगत स्वा हितानन्द और स्वामी कृष्णात्मानन्द सहित कु नौ लोग, उनके (महापुरुष महाराज के) कम में गये और उनसे संन्यास मंत्र प्राप्त किय साथ ही गेरुआ वस्त्र और संन्यास-नाम भ हमने प्राप्त किये। यहाँ इन बात का उल्ले करना रोचक होगा कि महापुरुष महाराज क आज्ञा से, संघ में अपने प्रवेश के चौथे य पाँचवें महीने, सन् १९२७ से ही, मैं गेरुअ वस्त्र पहन रहा था। उस समय मैं संन्यास क विषय में अधिक बातें नहीं जानता था।

मैं करीब चार महीनों तक लगातार वेलुड़ मठ में रहा। उस अवधि में, मेरे मन मे सार-गाछी जाने और स्वामी अखण्डानन्दज महाराज से मिलने की इच्छा जगी। जिन दिनो मैं स्वामी विवेकानन्द की रचनाएँ पढ़ रहा थ तो मैंने पाया था कि स्वामीजी ने स्वामी अखण्डानन्दजी की अत्यधिक प्रशंसा की है गरीबों और पद-दलितों की सेवा करने के स्वामीजी के सन्देश को क्रियान्वित करने वाले वे पहले व्यक्ति थे। 'तुम मेरे आदमी हो, तुम मेरे आदमी हो!'-इन शब्दों में स्वामीजी ने उनकी प्रशंसा की थी। अतः मैंने स्वामी अखण्डानन्दजी से सारगाछी मिलने की एक गुप्त आकांक्षा पाल रखी थी। मैंने महापुरुष महाराज से सारगाठी जाकर उनसे (स्वामी अखण्डानन्दजी से) मिलने की आज्ञा ले ली। उन दिनों, हमलोग सप्ताहान्त का वापसी टिकट ले सकते थे। उस समय यह बड़ा सस्ता था-शुक्रवार को आप जाइए और रविवार को

लौट आइए। सो महापुरुष के आशीर्वाद लेकर मैं सारगाछी गया। वहाँ का सप्ताहान्त मैंने उत्कृष्ट रूप से व्यतीत किया। मैंने अखण्डानन्दजी से भेंट की, उन्हें प्रणाम किया और अपने हृदय की आकांक्षा उन्हें बतायी। सुदूर मैसूर आश्रम से आया हुआ मैं एक नवागन्तुक था और मुश्किल से चौबीस या पच्चीस वर्षों का नवयुवक था। किन्तु स्वामी अखण्डानन्दजी ने मुझ से एक परम विशिष्ट अतिथि के समान बरताव किया-विशेष प्याला, खास तश्तरी, खास केटली-मेरे लिए सब कुछ खास। और वे छात्रावास के लड़कों से कहा करते, 'जाओ, और स्वामी को प्रणाम करो।' मैंने यह कहते हुए प्रतिकार किया कि आपके समक्ष यह नहीं होना चाहिए। मैंने कहा, ''महाराज, आप क्या कह रहे हैं? क्या आपके सामने में उन्हें यह करना चाहिए?' वे कहते, ''अरे, तुम मैसूर से आये हो और लड़कों की ओर घूमकर पुनः कहते, 'प्रणाम करो।' तब सभी लड़के आते और प्रणाम करते।

एक दिन वे उद्यान से विलम्ब से भोजन के लिए आये और कहा-'शंकर, मेरे शरीर में दर्द है।' क्यों?-मैंने पूछा। 'मुझे एक विशेष सब्जी तोड़ने के लिए, जो काफी बढ़ गयी थी, नीचे झुकना पड़ा।' महाराज ने उत्तर दिया। मैंने कहा-यहाँ इतने अधिक ब्रह्मचारी और साधु हैं, फिर आप यह सब स्वयं क्यों करते हैं? उन्होंने कहा-ओह, तुम क्या कहते हो? वे सब मूर्ख हैं; वे अपने कार्य सुचारू ढंग से नहीं करते हैं। बेलुड़ मठ यहाँ केवल मूर्खों को भेजता है!' (हँसी)। मैंने कहा, 'मुझे दुःख है कि आपको दर्द है।' महाराज ने उत्तर दिया-'हाँ, तुम जानते हो, मुझे कुछ कठिनाइयाँ हैं······'

इस तरह, वे मुझसे एक युवक की भाँति हास-विनोद भरी बातें किया करते थे। मैंने एक गंभीर मस्तिष्क और सदय हृदय के साथ उनमें यह विशेषता पायी। एक दिन उन्होंने मुझे पूछा-'तुम्हें मेरा आश्रम कैसा लगता है?' मुझे बहुत अच्छा लगता है; मुझे यहाँ नींद आती है।'-मैंने उत्तर दिया। महाराज ने कहा-'क्या? मेरा आश्रम केवल सोने के लिए है? स्वामी परमानन्द यहाँ थे। उन्होंने कहा कि मुझे यहाँ अच्छा ध्यान लगता है।' मैंने प्रत्युत्तर दिया, 'महाराज, वे यही चाहते थे। किन्तु मुझे अच्छी नींद की जरूरत थी और वह मैंने यहाँ भली-भाँति पायी।'

इस प्रकार, दो दिन बीत गये। विदा का दिन आ गया। मैंने उनसे कहा-'महाराज, आप इस जंगल में रहते हैं। कई भक्त बेलुड़ मठ से आपके-ठाकुरके अन्तरंग शिष्यके-दर्शनार्थ आते हैं। अतः आप यदि बेलुड़ मठ में रहें तो बड़ा अच्छा होगा।' उन्होंने पूछा-'इस केन्द्र की देखभाल कौन करेगा?' बेलुड़ मठ किसी को भेज देगा।'-मैंने कहा। उन्होंने कहा-'मठ केवल एक मूर्ख को भेज देगा!' (हँसी)। भाषा का विनोद और आमोद-प्रमोद तो देखो! ''अगर तुम आ जाओ और यहाँ ठहर जाओ तो फिर मैं बेलुडत्र मठ जाने को तैयार हूँ।'-उन्होंने कहा। मैंने कहा--बेलुड़ मठ आवश्यक कार्य करेगा; परन्तु हमलोग चाहते हैं कि आप बेलुड़ मठ में रहें ताकि मैं और अन्य अनेक लोग आपका दर्शन कर सकें।''

फिर मुझे विदा लेने और रेलवे स्टेशन जाने का समय आ गया। आश्रम से थोड़ी ही दूर पर स्टेशन है। मैं उनके कमरे में गया, प्रणाम किया और उनसे कहा ''महाराज, मैं आपका आर्शीवाद चाहता हूँ। मैं लोगों, विशेषकर युवाओं के बीच कार्य करता हूँ। मुझे आशीर्वाद दीजिए कि मैं युवकों को स्वामीजी के विचारों के प्रति प्रेरित करने के लिए स्वामीजी का यंत्र

बन सकूँ। मुझे पूरा विश्वास है कि मैं यह सामर्थ्य प्राप्त कर सकूँगा। मैंने स्वामीजी को नहीं देखा है, लेकिन मैंने आपके दर्शन किये हैं और उन्होंने आपको अत्यधिक प्यार किया था। आपका आशीर्वाद मेरे लिए स्वामीजी का आशीर्वाद होगा।'' ज्यों ही मैंने उनसे कहा, उनके हृदय का सारा हलकापन जाता रहा। ये बहुत गंभीर हो गये और अपने दोनों हाथ मेरे मस्तक पर रख दिये और कहा-''मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ!'' मैंने अपने भीतर एक जबर्दस्त उत्थापन (उठान) का, अपने भीतर से एक प्रकार की शक्ति के उद्भूत होने का अनुभव किया। तदुपरान्त मैंने उन्हें प्रणाम किया और चुपचाप बरामदे पर चला आया और रेलवे स्टेशन की ओर अग्रसर होने लगा। और पीछे मुड़कर देखने पर मैंने उन्हें बरामदे पर, मेरी ओर तब तक निहारते हुए खड़ा पाया, जब तक मैं स्टेशन में ओझल नहीं हो गया।

कलकत्ता लौटने पर, सर्वप्रथम मैं अद्वैत आश्रम गया और तब बेलुड़ मठ पहुँचा। जब मैं मठ में पहुँचा तो मैंने देखा कि स्वामी अखण्डानन्दजी वहाँ पहले से पहुँचे हुए हैं क्योंकि वे सीधे आये थे और मैं अद्वैत आश्रम होता हुआ आया था। उन्होंने महापुरुष महाराज के मस्तिष्कीय आघात का तार पाया था। मुझे देखकर उन्होंने कहा, ''शंकर, देखो, तारकदा की हालत। क्या इसी के लिए तुमने मुझे बेलुड़ मठ आने को कहा था? देखो, क्या हो गया है?'' प्रथम एक महीने तक महापुरुष महाराज अचेतावस्था में पड़े रहे और उनकी हालत बहुत चिन्ताजनक थी। परन्तु धीरे-धीरे चेतना लौटी। यद्यपि वे मुस्कुरा सकते थे और अपने हाथ हिला सकते थे। सावधानीपूर्ण उपचार किया गया था। बर्फ की कई पोटलियाँ उनके माथे पर हमेशा रखी रहती थी और इससे उनकी दशा में सुधार हुआ।

स्वामी अखण्डानन्दजी ने मुझे कहा, ''मुझे थोड़ी गठिया हो गयी है। मैंने सुना है कि इसमें गुरुवायुर श्रीकृष्ण के मन्दिर का तेल बड़ा लाभकारी होता है।'' मैंने उनसे कहा, ''मैं वह तेल भेज दूँगा।'' फिर मैंने महापुरुष महाराज से विदा ली। उन्होंने मात्र अपना हाथ आशीर्वाद देने के लिए उठाया और अपने प्रिय सेवक शंकर (स्वामी अपूर्वानन्दजी) से संकेतों के द्वारा निर्देश दिया, ''इसे चामुण्डी मन्दिर और आश्रम में ठाकुर की प्रणामी के लिए कुछ दे दो।'' शंकर महाराज उनका आशय समझ गये। उन्होंने कुछ रुपये लाकर मुझे दिये। मैंने उन्हें और अखण्डानन्दजी को प्रणाम किया और मैसूर के लिए प्रस्थान किया। मैंने चामुण्डी मन्दिर में जहाँ महापुरुष महाराज पहले जा चुके थे, पूजा की और आश्रम में भी पूजा की और बेलुड़ मठ में उन्हें प्रसाद तथा अखण्डानन्दजी को तेल भेज दिया। दूसरे वर्ष फरवरी, १९३४ में महापुरुष महाराज ने महाप्रयाण किया और अखण्डानन्द महाध्यक्ष बने। संघ के महाध्यक्ष महापुरुष महाराज और उपाध्यक्ष स्वामी अखण्डानन्दजी महाराज से यही मेरा साहचर्य था।

जब मैं बेलुड़ मठ में ब्रह्मचारी के रूप में रहता था, खोका महाराज, स्वामी सुबोधानन्दजी स्वामीजी के शयन कक्ष के उत्तर वाले कमरे में रहते थे। मैं कुछ समय उनके साथ व्यतीत किया करता था। वे गंगा की ओर मुँह किये बरामदे में लेटे बच्चे की तरह हुक्के का आनन्द लेते हुए लेटे रहते थे। मैं उनकी बगल में बैठ जाता था। मैं उनसे बहुत खुला हुआ था और बड़े मुक्त भाव से उनके पेट को अपने हाथों से सहलाया करता था जब वे मुझसे विभिन्न विषयों पर बातें किया करते रहते थे।

बेलुड़मठ की मेरी दूसरी यात्रा १९३७ ई० में श्रीरामकृष्ण शताब्दी समारोह के अवसर पर हुई जब स्वामी विज्ञानानन्दजी महाराज संघ के परम अध्यक्ष हो चुके थे। वे सुदूर इलाहाबाद में थे। मैं बेलुड़ मठ से बनारस (वाराणसी) गया। मैंने स्वयं से कहा, 'इलाहाबाद निकट ही है। मुझे इलाहाबाद जाना चाहिए और अपने संघ के महाध्यक्ष विज्ञानानन्दजी महाराज का दर्शन करना चाहिए।' अतः मैं बनारस से इलाहाबाद गया। वहाँ आश्रम में गया और १ अप्रैल १९३० ई० को विज्ञानानन्दजी महाराज को प्रणाम किया। उन्हें बीच में रखकर और कुछ भक्तों एवं मेरे साथ एक समूह-चित्र लिया गया था। लेकिन लगता है कि वह समूह चित्र कहीं खो गया है। इलाहाबाद आश्रम द्वारा हाल में प्रकाशित नये अलयम में वह फोटो नहीं है। १ अप्रैल का दिन था। यही वह दिन था जब कांग्रेस की सरकारों ने सत्ता अधिग्रहण-ब्रिटिश शासन के अधीन प्रान्तीय स्वायतत्ता की शुरुआत की थी।

बदस्तूर, मैंने देखा कि विज्ञानानन्दजी की जेब विभिन्न वस्तुओं-दाढ़ी बनाने के सामानों का सेट और ऐसी ही वस्तुओं-से भरी पड़ी थी। यह विज्ञानानन्दजी का सामान्य आचरण था। जब मैंने उनसे कहा कि मैं आपका आशीर्वाद लेने आया हूँ, तो उन्होंने कहा-'हाँ, हाँ, तुमने मुझे देख लिया है, अब जाओ और पीने का पानी पी लो और तुम वापस जा सकते हो।' मैंने उनकी उस अभ्युक्ति का आनन्द उठाया। मैंने पहले ही जान लिया था कि वे अकेले रहना पसन्द करते थे। किन्तु, अन्य स्वामियों ने एक बंगाली भक्त-परिवार में मेरे भोजन की व्यवस्था कर रखी थी और उस दिन मैंने अपने जीवन का सर्वोत्तम भोजन किया था। फिर मैं बनारस लौट आया। वहाँ से कलकत्ता और वहाँ से मैसूर आया। विज्ञानानन्दजी ने पूर्व में मद्रास और मैसूर की यात्रा की थी और कुछ भक्तों को उन स्थानों में दीक्षा प्रदान की थी।

जब मैंने पन्द्रह वर्ष की उम्र में सर्वप्रथम श्रीरामकृष्ण वचनामृत को पढ़ा था तभी से इसके लेखक श्री 'म' या महेन्द्रनाथ गुप्ता के प्रति मुझमें बहुत प्रेम और आदर का भाव विकसित हो रहा था। अतः जब मैं १९२९ में ब्रह्मचर्य के लिए बेलुड़ मठ आयाथा, मुझे उनके दर्शन करने और उन्हें प्रीतिपूर्ण आदर करने का अवसर पाकर प्रसन्नता हुई थी। एक दिन मैं श्री 'म' को अपना आदर अर्पित करने दो अन्य साधुओं के साथ कलकत्ता गया। हमलोग शाम को ऊपरी मंजिल पर गये, उनसे मिले और श्रीरामकृष्ण के संबंध में उनकी बातें सुनते हुए उनके साथ प्रायः तीन घंटे व्यतीत किये। विदा लेने के समय उन्होंने हमें एक टोकरी फल और मिठाइयाँ दीं। जब मैं उन्हें ले रहा था, मैंने उनसे पूछा, 'क्या सह ठाकुर के लिए भोग है?' उन्होंने कहा-'नहीं, नहीं, यह साधुओं के लिए, साधुओं के लिए है।' यही पर्याप्त है। ठाकुर ने मुझे साधुओं की सेवा करने के लिए कहा है: इसी भाषा का उन्होंने प्रयोग किया। अतः, मैंने उन्हें लाकर साधुओं में वितरण के लिए भण्डार में दे दिया।

स्वामी अभेदानन्दजी महाराज से उनके कलकत्ता आश्रम में मिलने का मुझे सुयोग मिला था। उन्होंने अपने व्याख्यानों के विषय में बातें की। मैंने उनके व्याख्यान पहले ही पढ़े थे। १९३७ में श्रीरामकृष्ण शताब्दी के अवसर पर कलकत्ते के नगर-भवन में मैंने उनका व्याख्यान सुना था। यह बड़ा ही रुचिकर व्याख्यान था। मैंने युनिवर्सिटी इंस्टीट्यूट (विश्वविद्यालय संस्थान) में रविन्द्रनाथ टैगोर का व्याख्यान श्री

सुना था। ठाकुर के अन्तरंग शिष्यों और टैगोर के साथ ये ही मेरे संसर्ग हैं।

जहाँ तक महापुरुष महाराज की बात है, उनका मार्ग दर्शन मेरी आध्यात्मिक शक्ति का बहुत बड़ा स्रोत रहा है। मेरे पत्रों के उत्तर में वे मुझे 'प्रिय यतिचैतन्य' या 'प्रिय शंकरन्' सम्बोधित कर लिखा करते थे। इन पत्रों में उनके सचिव स्वामी गंगेशानन्द या द्विजेन महाराज के हाथों की लिखावट रहा करती थी। एक बार मैंने उनसे पूछा कि क्या इन पत्रों में आपकी भी कोई पंक्ति है? उन्होंने उत्तर दिया, 'बिल्कुल नहीं। ये सभी उनकी (महापुरुषजी की) हैं। मैंने केवल वही लिखा है जो उन्होंने मुझसे लिखवाया।' १९२७ से १९३१ के बीच मैंने आध्यात्मिक मार्गदर्शन चाहते हुए महापुरुष महाराज को कुल आठ पत्र लिखे थे और मैं उपयुक्त उत्तर पाया करता था। ये पत्र मैंने बेलुड़ मठ के श्रीरामकृष्ण-संग्रहालय को दे दिये हैं। दिसम्बर १९२९ को बनारस से लिखे गये एक पत्र में महापुरुषजी ने लिखा : 'मैं तुम्हारे पत्र से प्रसन्न हूँ। ······यदि तुम्हें अपने में और श्रीरामकृष्ण की कृपा में विश्वास है तो तुम निश्चय ही आत्मजयी होओगे। वे उसी की सहायता करते हैं जो संघर्ष करते है-यही उनका स्वभाव है। सदैव स्मरण रखो कि उनके सहायक हाथ सदैव तुम्हारा पथ- दर्शन कर रहे हैं अन्यथा तुम कबके परास्त हो चुके होते और एक साधारण व्यक्ति हो जाते। इसलिए डरो मत ······उनकी कृपा से मन का स्वभाव परिवर्तित होगा और वह तुम्हारे पार्श्व की सहयोगिनी बन जायगी।'

और ०७.०७.१९३० को बेलुड़ मठ से लिखे अपने एक अन्य पत्र में महापुरुष महाराज ने मुझे लिखा : 'तुम्हारा पत्र और श्री चामुण्डा देवी का प्रसादम् प्राप्त हुए। मैं तुम्हें आशीर्वाद दे रहा हूँ। तुम्हें यहाँ दुबारे इतनी जल्दी आने की जरूरत नहीं है। रेल-भाड़े में इतना अधिक खर्च करने की क्या जरूरत है? ······जहाँ कहीं तुम रहो श्रीगुरु महाराज से प्रार्थना करो, मात्र उनकी ही कृपा से तुम शान्ति पा सकते हो; तुम्हें यहाँ-वहाँ भटकने की आवश्यकता नहीं है। कार्य करना मत छोड़ो; इसे प्रार्थना और ध्यान के साथ संयुक्त करने की चेष्टा करो।'

और इसीलिए तपस्या करने के हेतु यहाँ-वहाँ जाने की मैंने कभी चिन्ता नहीं की। मैंने यह समझ लिया कि जिस दिन मैंने संघ में योगदान किया उसी दिन से निरन्तर तपस्या में हूँ और संघ में मेरा जीवन एवं कार्य स्वयं ही तपस्या है। मेरे व्यक्तित्व के विकास में स्वामी विवेकानन्द की पत्रावली के एक पत्र के एक वाक्य ने मुझे प्रेरित किया है : 'गम्भीरता के साथ बालसुलभ सरलता को मिलाना सीखो।'

मैं स्वामी निर्मलानन्दजी के साथ अपने सम्पर्क का भी उल्लेख करूँगा, जो यद्यपि श्रीरामकृष्ण के शिष्य नहीं माने जाते हैं, तथापि उन्होंने उनका (श्रीरामकृष्ण का) दर्शन किया था। उनसे हुई मेरी पहली मुलाकात का बड़ा दुःखद अनुभव है। १९२७ ई० में वे पोन्नमपेट के रास्ते बंगलोर से मैसूर आये। स्वामी सिद्धेश्वरानन्दजी और मैं उन्हें लेने रेलवे स्टेशन गये। हमलोगों को देखकर जो प्रथम वाक्य उन्होंने उच्चारित किया वह यह था, 'बेलुड़ मठ चूल्हे भाड़ में चला गया है।' मेरे लिए इतना ही काफी था। मेरी उनमें कोई अभिरुचि नहीं रह गयी थी। कुछ ही दिनों बाद मैं पोन्नमपेट आश्रम गया और एक बार फिर उनसे मुलाकात की। फिर आया १९३१ का बंगलोर-मुकदमा जिसे बेलुड़ मठ ने बंगलोर को उनके (निर्मलानन्दजी के) निजी सम्मान के

दावे के विरोध में दायर किया था। मठ स्वयं मुकदमा नहीं लड़ना चाहता था किन्तु सर अलादि कृष्णस्वामी अय्यर जैसे प्रतिष्ठित वकील ने मठ को समग्र संघटन के हित में स्वामी निर्मलानन्दजी के दावे का विरोध करने का परामर्श दिया। अतः मामला बंगलोर कोर्ट में गया। रामकृष्ण मठ और मिशन के सहायक सचिव दिवंगत स्वामी अमृतेश्वरानन्दजी (परेश महाराज) ने मुकदमें का कुशलता से संचालन किया। यह मुकदमा १९३५ में खत्म हुआ। न्यायालय ने निर्णय दिया कि बेलुड़ मठ ही बंगलोर आश्रम का स्वामी है। और स्वामी चिन्मयानन्द और मैं बंगलोर आश्रम का प्रारंभिक कार्यभार ग्रहण करने के लिए भेजे गये।

अतः श्रीरामकृष्ण के पाँच संन्यासी शिष्यों, यथा-स्वामी शिवानन्दजी, अखण्डानन्दजी, सुबोधनन्दजी, अभेदानन्दजी और विज्ञानानन्दजी तथा मास्टर महाशय के सम्बन्ध में यही मेरे संस्मरण हैं।

रूचि-भेद

अत्यन्त दुर्लभ मानव देह प्राप्त कर उसके उद्देश्य के प्रति यथार्थ धारणा नहीं होने से रूचि में भेद होता है। श्रीरामकृष्ण कहते थे कि चार प्रकार की मछली होती है। एक तो वे हैं जो जाल पड़ने पर, उसमें फँस जाने पर भी यह जानती ही नहीं कि वह जाल में फँस गयी है और उसकी मृत्यु निकट है। वह मिट्टी में मुँह दाबकर सोचती है कि वह सुरक्षित है और बहुत आनन्द में है। उसी प्रकार से वे जीव, जिन्हें यह बोध ही नहीं है कि वे माया के जाल में फँसे हुए है, विषय सुख में रमे हुए अपने को सुख सागर में डूबा समझते हैं पर यह नहीं जानते कि वे विषयों द्वारा होगे जा रहे हैं और काल के कराल गाल में पड़कर इस अनमोल मनुष्य योनि को नष्ट कर रहे हैं। इन्हें बद्ध जीव कहा जाता है। दूसरी मछली वह है जो यह जानकर कि जाल में फँस चुकी है, उससे निकलने का प्रयास करती है, छटपटाती है। उसी प्रकार वह जीव, जिसे यह बोध है कि वह माया के बन्धन में पड़ा है, उससे निकलने के लिए छटपटाता है और मोक्ष की कामना से व्याकुल हो उठता है, मुमुक्षु कहलाता है। छटपटाती मछली जिस तरह प्रयास कर जाल से निकल बाहर कूद कर निकल भागती है, उसी प्रकार से कठोर साधनाओं और तीव्र प्रयासों से जो जीव अपने माया बन्धन को तोड़ देता है वह मुक्त कहलाता है। जो दूर से ही जाल देखकर किनारे पर लग जाती है, उस मछली की तरह जो जीव माया के जाल में फँसते ही नहीं हैं, वे नित्य जीव हैं जैसे नारद, शुकदेव आदि। बद्ध, मुमुक्षु, मुक्त या नित्य जीव की लक्ष्य के प्रति धारणा के अनुसार रूचि भी भिन्न होती है। जिनका लक्ष्य इह लोक या परलोक में विषय सुख की प्राप्ति हो, ऐसे भोगवासना में रत प्राणियों की रूचि विषय गन्ध में ही होती है।

श्रीरामकृष्ण एक घटना बताते हैं। बहुत से गाँवों से मछली बेचने वाली महिलाएँ मछली बेचने हाट में आती थीं और मछली बेचकर अपने-अपने गाँव लौट जाती थीं। यह प्रथा मत्स्य-उत्पादन स्थानों में अभी भी देखी जाती है। एक बार दो महिलाएँ जब मछली बेचकर लौट रही थीं तो संध्या हो गयी। गाँव बहुत दूर था। इसलिए उन्होंने सोचा यहीं कहीं आश्रय लेकर रात्रि विश्राम कर प्रातः पुनः यात्रा करें। विश्राम के लिए स्थान खोजते-खोजते वे एक बगीचे में पहुँची और बगीचे के माली से रातभर ठहरने की व्यवस्था कर देने के लिए अनुरोध किया। माली ने सोच विचार कर कहा, "ठीक है! जब तुम लोग विपदा में पड़ी हो तो आज रात भर इस फूल के गोदाम में विश्राम कर सकती हो। दोनो महिलाएँ अपनी मछली की टोकरियाँ एक तरफ रखकर विश्राम करने लगीं। किन्तु नींद एक दम नहीं आ रही थी। फूलों की सुगन्धि से उनका सिर ठनठना रहा था। अब क्या करें? बहुत देर बाद उपाय सूझा तो अपनी मछली की टोकरियों में जल छिड़क कर अपने पास में रखकर लेट गयीं। बस! फिर क्या था मछली की गंध महकने लगी और उस दुर्गन्ध को पाकर उनका मन शांत हुआ और खर्राटें भरने लगीं।

तो पाठकों! विषय की दुर्गन्ध के बिना जिन्हें सुख नहीं मिलता वे अपना परलोक गँवा बैठते हैं। पाठकों! यदि जन्म मरण के चक्कर से छूटकर, मोक्ष प्राप्ति कर अपना जीवन सफल बनाना हो तो अपनी रूचि बदलें। विषय भोगों और कामना-वासना में रूचि न रखकर श्री भगवन्नाम, भगवद्चिन्तन्न, इष्ट-ध्यान, सत्संग, गुरु सेवा और नैतिक मूल्यों में अभिरूचि रखें। कहा अवश्य हमने है पर करने न करने की स्वतंत्रता आपकी है।

-स्वामी शशांकानन्द

भगवान श्रीकृष्ण : जीवन और संदेश

- स्वामी आत्मानन्द

{श्रीमत् स्वामी आत्मानन्दजी महाराज, रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म०प्र०) के सचिव थे। उन्होंने यह प्रवचन रामकृष्ण आश्रम, इन्दौर में दिया था। कैसेट से इसके अनुलेखन का कष्टसाध्य कार्य श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव, इलाहाबाद ने किया है। तदर्थ वे धन्यवाद की पात्रा हैं—सं०}

देवियो! और सज्जनो! आज हमलोग भगवान श्रीकृष्ण की जयंती के निमित्त यहाँ एकत्र हुए हैं। जैसा कि पिछली बार मैंने घोषित किया था, भगवान श्रीकृष्ण, उनका जीवन और संदेश यह आज की चर्चा का विषय रहेगा।

पिछली बार हमलोगों ने, एक भिन्न दृष्टि से उनके जीवन को देखने का प्रयास किया था। आज यह देखने की चेष्टा करेंगे कि उनकी देन मानवता के निर्माण में किस प्रकार है? उनका वह संदेश क्या है, जो हमें जीवन जीने की प्रेरणा देता है, ऐसा संदेश जो मनुष्य को पलायनवादी नहीं बनाता, बल्कि उसे जीवन के कर्तव्यों का स्मरण दिलाया करता है। भारतीय दर्शन के सम्बन्ध में एक भ्रान्त धारणा यह है कि वह पलायनवादी है, वह जीवन से भागने की शिक्षा देता है, पर वस्तुतः यदि हम श्रीकृष्ण के उपदेश को देखें जो गीता में निबद्ध है, तो वहाँ पर पलायन की शिक्षा नहीं मिलती बल्कि जो भाग रहा है, उस भागने वाले को पकड़कर उसे कर्म में लगाने की दिशा दी गयी है।

अर्जुन भागना चाहता है, पर श्रीकृष्ण उसे भागने नहीं देते। उनके दो रूप हमारे सामने आते हैं-एक तो उनका वह रूप है जिसे स्वामी विवेकानन्द ने गोपीजनवल्लभ कहा है और दूसरा रूप है-जो गीता-गायक के नाम से प्रसिद्ध है। इन दोनों रूपों में इतना अन्तर है कि कुछ लोगों ने यहाँ तक कह डाला-ये दो भिन्न कृष्ण हैं। व्रज के कृष्ण गीता-गायक कृष्ण नहीं हैं, ऐसी मान्यता का प्रचलन भी किया गया है-केवल इसलिए कि इन दोनों रूपों मे हमें बड़ा पार्थक्य दिखाई देता है। एक में श्रीकृष्ण बड़े रागी दिखाई देते हैं, तो दूसरे में बिल्कुल विरागी। एक में हम देखते हैं कि किस प्रकार वे गोपियों के पैर पकड़ कर मनौवल कर रहे हैं, तो दूसरे में देखते हैं कि उन्हें गोपियों की कोई सुध नहीं। सबकुछ मानो भूल-बिसर गये हैं।

ऐसी विलक्षण प्रतिभा उनमें दिखाई देती है कि स्वाभाविक ही इन दोनों सूत्रों को एक साथ बाँधने में बड़ी कठिनाई मालूम पड़ती है, संभवतः इसीलिए कुछ चिन्तकों और विचारकों ने ऐसा मान लिया कि ये दोनों कृष्ण अलग-अलग हैं पर वस्तुतः अलग-अलग नहीं हैं। जो गोपी-जन-वल्लभ हैं, वही गीता-गायक भी हैं। और यह जो दोनों रूपों में अलगाव दिखाई देता है, यह अलगाव ही उनके जीवन की विशिष्टता है। यहीं उनका वह रूप दिखाई देता है, जिस रूप को उन्होंनें अपने उपदेशों के माध्यम से गीता में व्यक्त किया है। श्रीकृष्ण को समझने के लिए उनके उपदेशों को मैं सबसे सार्थक माध्यम मानता हूँ। इतना विचित्र जीवन है उनका, इतना जटिल दिखाई देता है कि ऊपरी दृष्टि से ऐसा लगता है कि हम इस कृष्ण को समझ पायेगें या नहीं? समझने में बड़ी कठिनाई

होती है। और समझने के लिए सबसे उत्तम साधन मैं गीता को मानता हूँ, जो उनके मुख से निकले हुए उपदेश हैं। उन उपदेशों के प्रकाश में कृष्ण का जीवन अच्छी तरह से समझ में आता है। अन्यथा, यदि हम स्वतंत्र दृष्टि से उनके जीवन को पढ़ने की चेष्टा करें तो स्वाभाविक ही बहुत गलतफहमियाँ होती हैं और हम श्रीकृष्ण के यथार्थ व्यक्तित्व को समझ नहीं पाते। तो मैं यह कहा करता हूँ कि अपने उपदेशों का यदि कोई ऐसा व्याख्याकार अप्रतिम होगा, जिसने उपदेशों को अपने जीवन में खरा करके दिखाया, तो वे श्रीकृष्ण हैं।

श्रीरामकृष्ण देव कहा करते थे-कथनी और करनी में अन्तर नहीं होना चाहिए। मन और मुँह को एक करना-यही साधना है। मन और मुख को एक करना यानी कथनी और करनी को एक करना। मन में हम कुछ रखें और बाहर में हम कुछ प्रदर्शित करें, तो भेद उत्पन्न होता है। इससे हम अपने, वस्तुतः अन्तराल को दूसरों के सामने रखते नहीं हैं, जैसा हम भीतर हैं, वैसा प्रदर्शित नहीं करना चाहते, बल्कि जो हम नहीं है, वैसा बाहर दिखाना चाहते हैं। सामान्य भाषा में कहें तो यह कपटपूर्ण जीवन है और ऐसा जो कपट है, वह कभी भी किसी व्यक्ति के लिए वांछनीय तो है नहीं। श्रीकृष्ण इस कपट से पूरी तरह से परे हैं, उनका जीवन निश्छल है, शुभ है, उस जीवन को हम पढ़ सकते हैं। कुछ क्रियाएँ उनके द्वारा ऐसी होती हैं जिनको समझने में भले ही हम कठिनाई महसूस करें, पर कृष्ण ने कभी किसी प्रकार का छल नहीं किया। जब भीष्म का वे वध करवाते हैं तब भी छल नहीं करते। जिस समय द्रोणाचार्य का वध करने के लिए वे युधिष्ठिर से कहते हैं, तब भी उनके मन में छल नहीं हैं। उन्होंने अपने आप को बिल्कुल स्पष्ट रखा है। दो प्रकार की बातें उन्होंने नहीं कीं, ऐसी बातें जो परस्पर मिली-जुली हों। जिनको समझने में हम कठिनाई का अनुभव करें। जब कभी हम तनाव में होते हैं, हमारा मन उलझन में होता है तो हम जिस समय बातें करते हैं, हमारी बातें मिली-जुली होती हैं। हम स्पष्ट कोई बात कह नहीं पाते, क्योंकि हमारे भीतर ही मन सुलझा हुआ नहीं है और इसीलिए ऐसा सुलझा हुआ निदान हम दूसरों को नहीं दे पाते। यह आप प्रायः ही देखते होंगे। जब किसी समस्या के सामने आकर हम खड़े हो गये और हमारे मन के भीतर में ही उलझन बनी हुई है, तब कोई उसका समाधान चाहता है, तो हम गोल-गोल बातें बनाते हैं। पकड़ने वाला पकड़ लेता है कि यह व्यक्ति ठीक और स्पष्ट बात नहीं कह रहा है। हम कभी-कभी ऐसे व्यक्ति से कहते भी हैं-तुम अपनी बात स्पष्ट करो न! हम तुम्हें समझ नहीं पा रहे हैं, पर श्रीकृष्ण ने अपने जीवन में, जो भी कार्य किया, उसके पीछे कोई असमझ नहीं थी, गैर समझ नहीं थी। उनका कोई ऐसा कृत्य नहीं था जिसके सम्बन्ध में हम कहें कि हमने उनकी बात को ठीक ढंग से नहीं समझा, वे पूरी तरह से स्पष्ट हैं और पूरी तरह से स्पष्टता ही उनके भीतर की स्पष्टता का प्रमाण है, तो मैं यह कह रहा था कि यदि भारतीय इतिहास ने ऐसे व्यक्ति को हमारे सामने खड़ा किया जो अपने ही उपदेशों का अद्भुत और बहुत विलक्षण व्याख्यान हो, उसकी टीका हो, उसकी व्याख्या हो तो वह व्यक्ति श्रीकृष्ण के रूप में हमारे समक्ष आता है।

जब कुछ व्यक्ति मुझसे पूछते हैं कि यहाँ पर भगवान कृष्ण का जीवन समझ में नहीं

आता। महाभारत में जो वर्णित है, उसे समझने के लिए हम क्या करें? तो मैं कहता हूँ कि देखो! गीता में तुम जरा उनके उपदेशों को पढ़ जाओ, तो तुम कहीं न कहीं उस समस्या का समाधान पा लोगे। श्रीकृष्ण किस समय, कैसा वर्तन करेगें, उनकी उस वर्तनी के पीछे वैचारिक पृष्ठभूमि क्या है, किस आदर्श को लेकर वे अपनी बात रख रहे हैं, यह समूचा हमें गीता के माध्यम से समझ में आ जाता हैं। इसीलिए मैंने कहा कि वे अपने उपदेशों की स्वयं सबसे बड़ी व्याख्या हैं, स्वयं टीका हैं, ऐसे आलोक स्तम्भ हैं जिसके प्रकाश में हम उनके जीवन की क्रियाओं को समझने में समर्थ होते हैं। यह श्रीकृष्ण हैं, और जीवन उनका कितना निस्संग है? गीता में यदि उन्होंने किसी बात की बारंबार शिक्षा दी, तो वह शिक्षा है पहली एक तो युद्धस्व-तू युद्ध कर। और दूसरी है-असंगतादि।

ये दो शिक्षाएँ हमें गीता से प्रतिध्वनित होकर प्राप्त होती हैं। युद्ध करो। चाहे वे आत्मा का उपदेश दे रहे हो, अर्जुन को बता रहे हों कि यह शरीर तो नाशवान है अर्जुन। इसके लिए तू क्यों रोता है? आत्मा ऐसी है, जिसमें किसी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं है, जिसका नाश नहीं होता है, ऐसी अविस्मरणता आत्मा का प्रदर्शित करके अन्त में वे यही कहते हैं-युद्धस्व, तू युद्ध कर। युद्ध करने की प्रेरणा-यह पहली प्रेरणा मैं गीता से ग्रहण करता हूँ।

दूसरी प्रेरणा-असंगतादि-जो भी कर्म तुम करो, उसे असंग होकर के करो, उसके प्रति तुम्हारा लगाव न हो। अब यह बात सुनने में तो बहुत अच्छी लगती है। हमलोग भी बातचीत के सिलसिले में कह देते हैं, निष्काम कर्मयोग करना चाहिए, पर जितना कहना यह आसान है, उतना ही करना बहुत कठिन है। निष्काम कर्मयोग ऐसी कोई बात तो नहीं कि जिसको आनन-फानन में कर लिया जाय, वह एक ऊँची उपलब्धि है। मन की एक ऐसी ऊँची स्थिति है, जहाँ पर पहुँचने से मनुष्य निष्काम हो पाता है और यह जो हम गीता की बात की दुहाई देते हुए कहते हैं कि हमें निष्काम कर्म करना चाहिए। सुनने में बात बहुत अच्छी लगती है, पर जब हम काम करने जाते हैं, तब पता चलता है कि निष्कामता कैसे आयेगी? कितनी कठिन है निष्कामता, पग-पग में जहाँ हमारे भीतर में काम भरा हुआ है, कामना हमारे भीतर हिलोरें मार रही हैं। वहाँ पर जीवन के कर्त्तव्य कर्मों को निष्काम करना, एक अनासक्त भाव से करना यह कितना कठिन है। यह तभी मालूम पड़ता है, जब हम उस दिशा में सचेष्ट होते हैं। एक तो हमसे निष्काम कर्म बनता ही नहीं। हम स्वार्थ के घेरे में घिरे हुए हैं। अपने स्वार्थ के घेरे से बाहर जाकर के, कर्म करने की प्रेरणा ही नहीं मिलती। यदि कोई कर्म करना हो, तो पहले मैं पूछता हूँ कि मुझे क्या लाभ मिलेगा, फिर मैं देखता हूँ कि मेरे परिवार के सदस्यों को क्या लाभ मिलेगा और फिर बहुत अधिक हुआ तो सोचने लगता हूँ कि मेरे समाज को इससे क्या लाभ मिलेगा। देश तो बहुत दूर की बात हो जाती हैं। सामान्यतः हम इन तीन सीमाओं में घिरे होते हैं। एक व्यक्तित्व की सीमा-स्वयं अपनी दूसरी सीमा है- हमारे परिवार की, हमारे सम्बन्धी जनों की अब उसमें आप और भी उपसीमाएँ बना सकते हैं, जो मेरा भाई है, जो मेरा बेटा है, वह अधिक नजदीक सीमा का है और जो दूर के हैं वे कुछ दूर की सीमा के हैं, पर आप इस प्रकार भले बना लें, पर एक मोटी सीमा है परिवार की।

तीसरी सीमा है- समाज की। इन तीनों सीमाओं में सामान्यतः मनुष्य घूमता रहता है। जो चतुर्थ सीमा देश की है, उसमें वह बहुत कम जा पाता है, प्रान्त की सीमा कह लीजिये, फिर उसके बाद देश की सीमा कह लीजिए और फिर उसके बाद जो विश्व की सीमा है उसमें तो वह बहुत कम जा पाता है। विरले लोग होते हैं जो इन समस्त सीमाओं से ऊपर उठ कर विश्व को एक कुटुम्ब मानते हैं। हमारा आदर्श तो रहा है- बसुधैव कुटुम्बकम् का और हम घोषणा भी करते हैं। व्याख्यान देने में यह बात बहुत सहज मालूम पड़ती है कि यह सारी बसुधा हमारी कुटुम्ब है, परन्तु हम देखते हैं कि मैं तो अपने रिश्तेदारों को भी अपना कुटुम्ब नहीं बना सकता। अभी तक मैं भाई को बहुत प्यार करता था, विवाह होने के बाद जब बटवारा हो गया तो उस भाई को मैं देख भी नहीं पाता हूँ। तो ऐसा व्यक्ति यदि बसुधा को कुटुम्ब की बात कहे तो कितनी हास्यास्पद बात मालूम पड़ती है कि जो भाई को भाई नहीं मानता, जो भाई को देखना पसन्द नहीं करता, वह कहे कि सारी बसुधा मेरा कुटुम्ब है, यह सारा विश्व मेरे लिए परिवार के समान है, तो यह तो केवल एक शब्द का शब्द है। इसका कोई अर्थ नहीं है। तो इसीलिए मैं कह रहा था कि सामान्यतः हम इन सीमाओं में घिरे होते हैं। एक व्यक्तित्व की सीमा है, दूसरे हमारे परिवार की सीमा है और तीसरे हमारे समाज की सीमा है। इन तीनों सीमाओं को तोड़कर हम बाहर नहीं जा पाते हैं। यह मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति है, यों कह लीजिए। उसकी स्वाभाविक दुर्बलता है- यों कह लीजिए। तो यहाँ पर एक निष्काम कर्म की बात कहना कि मैं जब कर्म करूँगा तो वहाँ पर मैं अपना कोई हेतु नहीं देखता हूँ, परिवार जनों का हेतु नहीं देखता हूँ तो यह कहना बड़ा हो जाता है। तो सामान्यतः हमें कर्म करने की प्रेरणा, इन्हीं तीन सीमाओं के भीतर मिला करती है।

पहले मैं पूछूँगा कि मुझे क्या लाभ मिलेगा, फिर मैं पूछूँगा कि ठीक है, मुझे लाभ न मिला तो न मिला, पर मेरे रिश्तेदारों को तो लाभ मिलेगा! मेरे परिवार के लोगों को तो लाभ मिलेगा! ठीक है वह भी नहीं मिला तो मैं समाज को तो कुछ लाभ मिलेगा। बस इतना ही चिन्तन मेरा होता है, इससे आगे बढ़कर मैं चिन्तन नहीं कर पाता हूँ। यह जैसा मैंने कहा कि हमारी स्वाभाविक दुर्बलता है, तो यहाँ पर यह जो निष्काम कर्मयोग का प्रतिपादन है गीता में, उसकी दुहाई मैं दे सकता हूँ पर उसको अपने कर्म में उतारना, व्यवहार में उतारना कितना कठिन है यह तो तब मालूम पड़ता है जब मैं उसे करने के लिए जाता हूँ। और यहाँ भगवान कृष्ण हैं, जिनका जीवन ही निष्काम है, कहीं उन्होंने किसी प्रकार की कामना नहीं की। बहुत से राज्य जीते, पर कोई भी राज्य अपने लिए नहीं रखा, यह तो बचपन से हम देखते हैं।

सबसे पहले उन्होंने कंस का बध किया, यहाँ से उनका इतिहास मानो शुरू होता है। तब वे राज्य अपने अधिकार में ले सकते थे, पर उन्होंने राज्य अपने अधिकार में नहीं लिया, बल्कि अपने दादा को राज्य पर बिठाया- यह घटना आप सभी जानते हैं और इसके बाद कितने राज्यों को उन्होंने जीता। यह श्रीकृष्ण का एक विलक्षण स्वभाव है। उनके जीवन की यह विलक्षण प्रतिभा है-जो असंगता के रूप में उनके साथ-साथ चल रही है। जब वे ब्रज

थे, कितने रागी दिखाई देते थे, कितना प्यार उन्होंने व्रज के लोगों को दिया, परन्तु, जिस समय वे व्रज को छोड़कर चले जाते हैं, जव वे चले गये मथुरा अक्रूर के साथ और जव वे नन्द बाबा को वहाँ से वापस लौटने के लिए कहते हैं और कहते हैं वावा! तुम चलो, मैं बाद में आऊँगा। आने का आश्वासन देते हैं, पर एक बार भी वे व्रज में नहीं जाते हैं। कैसी विलक्षण वात है? सबकुछ वे भूल गये, यशोदा का वात्सल्य वे भूल गये, गोपियों का समर्पण वे भूल गये, गोप वालकों का इतना स्नेह और प्यार था, वह सव वे भूल गये। कितना खेल-खेले होंगे, कितनी वाल लीला उनकी हुई होगी-परन्तु सबकुछ वे भूल जाते हैं। एक बार ब्रज को छोड़ा तो हरदम के लिए छोड़ दिया। गोपियों को छोड़ा तो उनकी सुध तक नहीं आई। गोपियाँ रो-रोकर के अपना जीवन खपा रही हैं-कृष्ण की याद में, पर कृष्ण ऐसे लगते हैं मानो कितने निष्ठुर हैं। कभी तो उन्होंने गोपियों की याद की हो! केवल एक बार बस भेज दिया उद्धव को समझाने के लिए। उसके बाद गोपियों की सुध लेते हुए तो वे दिखाई नहीं देते। अद्भुत वह वंशी! जिसकी मधुर तान से सारा विश्व विमोहित होता था, ब्रज से चले तो जो वंशी को छोड़ा तो कभी उन्होंने वंशी को पकड़ा ही नहीं। यह विलक्षण असंगता है, जो जीवन में दिखाई देती है।

हमारे जीवन में एक छोटा सा गुण, कहीं पर प्रकट हो जाय तो हम उसे छोड़ नहीं पाते हैं, हम ढिंढोरा पीटते हैं, मरते दम तक हम यही कहा करते हैं कि हममें यह गुण है और काल प्रवाह से यदि गुण हममें नष्ट होता है, तो भी हम कहते रहते हैं कि भई एक जमाना था, जव हम भी गाते थे, तुम क्या गाते हो? हमारा भी कंठ वहुत अच्छा था, एक जमाना था, जव हम भी वहुत गाया करते थे, कॉलेज में भाग लेते थे, लोगों को रिझा देते थे। तो चाहे वह गुण अव हममें न रहा हो, पर गुण की स्मृति को लेकर, हम अपने गुणों को दाद देते रहते हैं, पर कृष्ण हैं-जिन्होंने सवकुछ छोड़ दिया। इतना अद्भुत उनका वंशीवादन था, जिसको सुनकर के त्रैलोक्य विमोहित हो जाता था। हम पढ़ते हैं, एक वार ब्रज से जाते समय वंशी को छोड़ दिया, तो छोड़ ही दिया, ऐसी निःसंगता आपको कहाँ मिलेगी? ऐसे अद्भुत भाव-जहाँ मोह नहीं है। जहाँ पर किसी प्रकार की आसक्ति नहीं है। तो देखने में ऐसा लगता है कि कृष्ण कहाँ जीवित हैं? वर्तमान में जीवित हैं, न तो वे अतीत में जीते हैं। कभी उन्होंने अतीत में जीने की चेष्टा नहीं की। और कभी उन्होंने वर्त्तमान को पकड़ने की भी चेष्टा नहीं की। हम हैं जो वर्तमान को पकड़ते हैं, यौवन हमारा चला जा रहा है, तो हम यौवन को पकड़ने की चेष्टा करते हैं। तरह-तरह की औषधियाँ खाते हैं ताकि हम अपने वर्त्तमान यौबन को पकड़ सकें। वर्त्तमान के प्रति मनुष्य का कितना आग्रह होता है, यह समझाने की आवश्यकता इसलिए नहीं है कि आप और हम सभी वर्तमान को पकड़ने की चेष्टा करते हैं, हम उसे बीतने देना नहीं चाहते। जो सुखद होता है उसे मनुष्य क्यों कर छोड़े? वह तो सुखद को पकड़ करके रखना चाहता है।

पर कृष्ण ऐसे हैं कि कभी उन्होंने वर्त्तमान को पकड़ने की चेष्टा नहीं की। कितना प्रेम मिला उन्हें ब्रज में? कभी तो उन्होंने चेष्टा की होती कि इस प्रेम को मैं पकड़कर रखूँ? सव तो छोड़ दिया, एक निर्मोही संन्यासी की भाँति। कम से कम संन्यासी की भी कहीं पर अटक

होती है। पर कृष्ण तो ऐसे हैं कि उनमें कहीं अटक नहीं, कहीं मोह नहीं, किसी के प्रति किसी प्रकार की आसक्ति नहीं। अभी मिला तो कितने प्यार से बातचीत की? अभी जब गोपी की मनौवल कर रहे हैं, रास-लीला में जब हम पढ़ते हैं तो चरण पकड़-पकड़ करके मनौवल करते हैं, मनाते हैं, ठोढ़ी पकड़ करके प्यार की बातें करते हैं और ऐसा बताते हैं मानों कितने उसके प्रेम में आसक्त हैं और अब दूसरे क्षण छोड़ दिया तो कोई सुधि नहीं है। ऐसा व्यक्तित्व आपको कहाँ से मिलेगा?

यह विलक्षण व्यक्तित्व का निर्माण है, जो हमारा भारतीय इतिहास करता है। इसीलिए तो श्रीरामकृष्ण ने एक विलक्षण बात नरेन्द्रनाथ से कही थी! नरेन्द्रनाथ, वही नरेन्द्रनाथ जो बाद में स्वामी विवेकानन्द बनते हैं। नरेन्द्रनाथ को कृष्ण की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में संदेह था। वे मान लेते थे कि गीता गायक कृष्ण हो सकते हैं, पर उनको यह सही नहीं लगता था कि ये जो भागवत के कृष्ण हैं, ये जो गोपीजन-वल्लभ कृष्ण हैं, ये भी कभी रहे होंगे। वे सोचते थे-यह कवियों की कल्पना है। अरे ऐसा भी अनाविल प्यार कोई मनुष्य दे सकता है। जिसमें किसी प्रकार का कलुष न हो? आप कल्पना कीजिए, जब हम भागवत को पढ़ते हैं तो कृष्ण का प्यार कैसा है? क्या कभी किसी गोपी से उन्होंने एकान्त में मिलने की चेष्टा की? सहज प्रश्न जो हम अपने मन में उठा सकते हैं कि यदि एक व्यक्ति कामी है, उसके पीछे बहुत सी नारियाँ लगी हुई हैं, तो कामी व्यक्ति तो किसी नारी से, या किन्हीं नारियों से एकान्त में मिलने की चेष्टा करेगा। कृष्ण ने कभी किसी से एकान्त में मिलने की चेष्टा नहीं की!. चीर-हरण लीला में भी पढ़ेंगे कि वे अपने ग्वाल-बालों के साथ मिलते हैं। उ... तो विनोद करना है। निश्छल हँसी है। अभूतपूर्व वह प्रेम का प्रकाशन है, जो भू-तल में दिखाई नहीं देता। तो कृष्ण ने भी इस प्रकार की चेष्टा नहीं की कि अके... मिल जायें या अकेले में ये जो गोपियाँ ... प्रति आसक्त हैं तो आसक्ति का गलत प... हम ले लें। यह कृष्ण के चरित्र में भला दिखाई देता है? रास लीला के सम्बन्ध में टीका टिप्पणी की जाती है तो उसके सम्ब... कई बार हम कह चुके हैं। इतनी गोपिय... इन गोपियों के साथ अकेले कृष्ण रास क... और उस रास लीला में जैसा उनका अ... चरित्र प्रदर्शित है, गायब भी हो जाते हैं ... मानव की दृष्टि से देखें। यदि भागवत को ... है तो सम्पूर्ण ले लें। फिर भागवत का एक ... लें और दूसरा अंश न लें, यह तो ठीक नहीं है। जैसे कुछ लोग कटाक्ष करते हैं ... जो गोपी-जनवल्लभ कृष्ण थे, ये तो का... नारियों के पीछे दौड़ते थे। ये तो पर न... थीं। अगर यही हो, तो वहाँ पर जिस स... रास कर रहे हैं, उनको अन्तर्धान होना ... दिया गया तो अन्तर्धान कैसे हो गये? ... स्पष्टीकरण कैसे करेंगे? गोपियों के साथ ... रहे हैं और इतने में वे अन्तर्धान हो ज... और अन्तर्धान होने का कारण यह बताया ... कि उन गोपियों के मन में एक मान का ... आया, अभिमान की वृत्ति आयी कि हम ... भागिन हैं, जो कन्हैया का साथ हमें मिल... दूसरी गोपियाँ इतनी भाग्यशालिनी नहीं ... उनको यह भाग्य नहीं मिल पाया। बस ... ही तो उनके भीतर में, एक अभिमान जगा ... अभिमान की वृत्ति आयी थी। पर कृष्ण ... इतनी अभिमान की वृत्ति भी पसंद नहीं।

भगवान यह भी नहीं चाहते हैं। तो तासां तत् सौभगमदं-उनके इस भाव की जो स्त्रियाँ थीं, उनके इस मद को दूर करने के लिए वे वहाँ से अन्तर्धान हो जाते हैं, गायब हो जाते हैं। यह कथा हम पढ़ते हैं। फिर गोपियाँ रुदन करती हैं और रुदन करती हुई कृष्ण के सम्बन्ध में जो आख्यान करती हैं, उस आख्यान से मालूम पड़ता है कि वे कृष्ण को पुरुष के रूप में नहीं देखतीं। गोपियाँ, कृष्ण को पुरुष रूप में तो देख रही हैं, पर पुरुष के रूप में नहीं देखती हैं। आप कहेंगे कि यह कैसी विचित्र बात करते हैं? एक में कहते हैं कि वे पुरुष के रूप में देखती हैं और दूसरे में कहते हैं कि पुरुष के रूप में नहीं देखतीं। क्या मतलब है? वे पुरुष के रूप में तो देखती हैं, पर सामान्य पुरुष के रूप में नहीं देखती है। ''न खलु गोपिकानन्दनो भवान्, अखिलदेहिनाम् अन्तरात्मदृक् विखनसार्थितो विश्व गुप्तये, सख उदेयिवान् सत्वतां कुले।'' हे सखे! हम तुम्हें गोपीकानन्दन नहीं मानतीं। तो हम क्या मानती हैं? तुम साक्षात वही अन्तर्यामी प्रभु हो। ब्रह्मा ने प्रार्थना की थी-धरा का भार हरने के लिए तुम आओ। तो ब्रह्मा की प्रार्थना स्वीकार करके, तुम सात्वत कुल में आये हो, यदुवंश में आये हो, हम यह जानती हैं।

न खलु गोपिकानन्दन-जहाँ पर वे कहती हैं-आप गोपिकानन्दन नहीं हैं, किसी के वालक नहीं है, किसी गोपी के वालक नहीं हैं, तो यह जो गोपियों का भाव है, उस कृष्ण के प्रति, यह जो ईश्वरता का भाव है। तो यह भाव, यही काम-भाव में वाधक है। वे कृष्ण को साक्षात ईश्वर समझती हैं। पुरुप तो मानती हैं पर सामान्य पुरुप की दृष्टि से वे कृष्ण को नहीं देखतीं, यह विलक्षणता है। तो मैं यह कह रहा था कि कृष्ण वहाँ पर रास करते हैं पर उनका मनोभाव किस प्रकार का है और अन्त में जिस समय वे फिर से प्रकट हुए और जव गोपियों ने प्रश्न किया और यह कहा कि कन्हैया तुम किस प्रकार के प्रेमी हो? तीन प्रकार के प्रेमी, उन्होंने वताये हैं।

एक प्रेमी है जो प्रेम करने से करता है-यह दुनिया में दिखाई देता है कि मैं किसी को प्यार करूँ तो वह भी मुझे प्यार करता है।

एक प्यार वह है कि मैं प्यार किसी को न भी करूँ तो भी प्यार किया जाय। जैसे-माता और पुत्र। पुत्र प्यार करे या न करे, माता का प्यार पुत्र पर से हटता नहीं है, उसके मन के किसी कोने में वह पुत्र याद आता रहता है, भले ही पुत्र ने माता को बहुत यातनाएँ दी हों। तो इस प्रकार का भी प्यार है।

और एक यह है कि भले कोई प्यार मुझे करे या प्यार न करे, मैं तटस्थ रहता हूँ। तो जो ज्ञानी लोग हैं, वैरागी जन हैं, जिनकी ज्ञान में स्थिति है, जो कह लेंगे कि संसार से जिनको कोई लेना देना नहीं है, ऐसे जो निस्पृह महापुरुष हैं, तो आप प्यार कीजिए तो भी वही उनका रुख और कोई उनको प्यार न करे तो भी उनका वही रुख, तटस्थ भाव। यह बेरूखी-जिसे कहेंगे। जो साक्षी भाव से इस संसार में अपना जीवन यापन करते हैं। जिन्हें किसी के प्रति कोई लगाव नहीं है। किसी ने प्यार किया तो भी ठीक, किसी ने प्यार नहीं किया, तो भी ठीक। ऐसे ये तीन प्रकार के व्यक्ति होते हैं, कन्हैया! तुम किस प्रकार के व्यक्ति हो? ये तीन प्रकार का प्यार तो हम दुनिया में देखते हैं। मैंने आपसे अच्छी बात की तो आप भी मुझसे अच्छी वात करते हैं, यदि मैंने जरा आँखें लाल पीली कीं, तो आप भी आँखें लाल पीली करते

हैं। यह एक सामान्य दुनियादारी का भाव है, जो चलता है सामान्य रूप से।

दूसरी स्थिति है माता की। माता प्यार किये जाती है, भले ही पुत्र माता को गालियाँ देता हो।

तीसरी स्थिति है तटस्थता, यदि मैं ज्ञान में पागल हो गया हूँ, ज्ञान में रम गया हूँ, यदि मेरी स्थिति ज्ञान में हो गयी है, तो मैं कोई फर्क नहीं करता, कोई गाली देता है तो और कोई गाली नहीं देता है तो। मेरी कोई दृष्टि उधर नहीं जाती है। जैसे-हम भगवान बुद्ध के सम्बन्ध में पढ़ा करते हैं। एक व्यक्ति ने उनकी बड़ी निन्दा की। अपशब्द कहे। वे चुपचाप सुनते रहे। बाद में उनके पट्ट-शिष्य आनन्द ने पूछा-कि भन्ते! उसने आपको इतनी गालियाँ दीं, परन्तु आप किसी प्रकार विचलित नहीं हुए, यह कैसी बात है? तो कहा हंस करके भगवान बुद्ध ने-देखो, आनन्द! तुम मुझे कोई वस्तु देना चाहो और मैं अगर वह वस्तु न लूं, तो फिर वह वस्तु कहाँ रहेगी? आनन्द ने कहा कि भन्ते! तब तो वह मेरे पास ही रहेगी। यदि मैं आपको देना चाहूँ और आप स्वीकार न करें, तब तो यह सामान्य बात है कि वस्तु मेरे पास ही रहेगी। हंसकर के भगवान बुद्ध ने कहा कि वह व्यक्ति मुझे गालियाँ देना चाहता था, मैंने गालियाँ नहीं लीं, तो गालियाँ उसी के पास रह गयीं। इसमें भला मन का क्या विकार हो सकता है? अब यह तो मन की स्थिति है, कि जिसने प्यार दिया, वहाँ पर भी मन की तटस्थता, जिसने गाली दी, वहाँ पर भी मन की तटस्थता। अगर ऐसी वृत्ति हो, तब फिर वहाँ पर यह व्यक्ति तो यही कहेंगे कि या तो ज्ञान में स्थित है और वह भला बुरा कुछ भी गिनता नहीं है। तो कन्हैया, ये तीन प्रकार के प्रेमी दुनिया में होते हैं, तुम कौन से हो? इन तीनों में कौन से हो?

कृष्ण कहते हैं कि मैं इन तीनों में ए[illegible] भी नहीं हूँ। यह उनका कहना है। तब फि[illegible] तुम चौथी कोटि के हो? वह चौथी कोटि कौ[illegible] सी है? और तब उन्होंने बता दिया कि [illegible] चौथी कोटि का प्रेमी हूँ। तात्पर्य क्या है? [illegible] कहते हैं-अरे मैं तुमलोगों को अपनी आत्मा [illegible] समान ही प्यार करता हूँ। यह तो उपनिषद् [illegible] शिक्षा है। यह शिक्षा भाव की चाशनी में डु[illegible] करके, इस प्रकार कृष्ण के द्वारा प्रदत्त हो[illegible] इसकी कल्पना भी हम नहीं कर सकते। [illegible] याज्ञवल्क्य कहते हैं-मैत्रेयी से। पहले तो [illegible] अपनी दोनों पत्नियों में सम्पत्ति का विभा[illegible] कर देना चाहते थे। परिव्रज्या ग्रहण क[illegible] चाहते हैं। संन्यास लेना चाहते हैं। उनको ल[illegible] कि मेरी इन दोनों पत्नियों में सम्पत्ति को ले[illegible] बाद में झगड़ा न हो, इसलिए दोनों को बुला[illegible] बड़ी थी कात्यायनी और छोटी मैत्रेयी। [illegible] मैत्रेयी और कात्यायनी के बीच उन्होंने सम्[illegible] का बंटवारा कर देना चाहा। मैत्रेयी तो बाद[illegible] कहती हैं। कात्यायनी तो चुप रहती हैं। उन्[illegible] कुछ नहीं कहा। पर मैत्रेयी ने एक प्रश्न पूछा-[illegible] याज्ञवल्क्य ने कहा कि देखो, अब मैं परव्र[illegible] ग्रहण करना चाहता हूँ, तुम लोगों में झ[illegible] मत हो, इसलिए सम्पत्ति का बंटवारा क[illegible] जाना चाहता हूँ, कात्यायनी चुप रही। [illegible] मैत्रीयी बोलीं-यन्नु मे इयंभगोः सर्वापृथिवी वि[illegible] पूर्णास्यात्,स्यां त्वहं तेनामृताहो? यदि आप स[illegible] पृथ्वी को सोने से मढ़कर मुझे दे दें तो [illegible] इससे मैं अमृत हो जाऊँगी? मुझ को अम[illegible] मिल जायेगी? आप बारम्बार कहते हैं [illegible] सम्पत्ति का बंटवारा कर देता हूँ पर मैं [illegible] जानना चाहती हूँ कि सम्पत्ति मिल जाने [illegible] क्या मुझे अमरता मिलेगी? और तब याज्ञव[illegible]

कहते हैं-देखो मैत्रेयी! तुम मुझे जीवन भर प्रिय रही हो और यह प्रश्न करके और भी प्रिय हो गयी हो! तुमने बहुत अच्छा प्रश्न किया है, तो वे कहते हैं-*यथा उपकरणवताम् जीवितम् तथैव ते जीवितं स्यात्, अमृतत्वस्य तुनाशास्ति वित्तेन!* जैसे-उपकरण वालों का जीवन होता है, जैसे जिनके पास साधन होते हैं, सामग्री होती है, ऐश्वर्य होता है, बहुत आनन्द से जीवन व्यतीत करते हैं, तो तुम्हारा भी जीवन उसी प्रकार आनन्द का होगा मैत्रेयी! परन्तु हाँ यह बात तो है कि इस पैसे से अमरता की आशा नहीं की जा सकती। तब मैत्रेयी ने बड़े ही तेजपूर्ण शब्दों में कहा-*किमहम् तेन कुर्याम् येनाहम्, नामृता स्याम्।*

भगवन्! मैं वह लेकर के क्या करूँगी, जिससे मुझे अमरता नहीं मिलेगी?

श्रीरामकृष्ण यही बात कहते हैं। उनका भांजा था हृदय राम, जिसको वह हृदु कह करके पुकारते थे, तो हृदय राम ने जितनी सेवा अपने मामा की की, उतनी तकलीफ भी दी। यह हम इतिहास में पढ़ते हैं। बहुत सेवा की, तरह-तरह से सेवा की। यदि हृदय राम न होता, तो ऐसा कह सकते हैं कि श्रीरामकृष्ण देव की साधनाएँ उतने सहज ढंग से नहीं हो पातीं, जितनी हुई थीं। तो जो हो, पर साथ में रहकर भी, इतना सान्निध्य पा करके भी हृदय राम के चित्त में लोभ की वृति नहीं मिटी। उसके मन में लोभ मचा रहता था। कोई आ गया श्रीरामकृष्ण के दर्शन करने तो वह सोचता था, मुझे क्या लाभ होगा? मामा तो ऐसे हैं, जो बड़े निस्पृह हैं, कुछ नहीं चाहते हैं, पर मैं कुछ पैसे बना लूं। इसलिए मामा को बारंबार वह कहता रहता था कि मामा! तुम भी कैसे हो? तुम तो माँगते नहीं हो, लोग तो अयाचित तुमको दे जाते हैं, वह भी तुम लेते नहीं हो। तुमने शादी की है, बाद में खर्च तुम्हारा कैसे चलेगा? तुम्हारा भी घर-संसार होगा-यह हरदम हृदयराम की वृत्ति थी। और एक घटना से उसकी वृत्ति का पता चलता है।

एक दिन श्रीरामकृष्ण जा रहे थे पंचवटी की ओर। उन्होंने देखा कि एक पेड़ से एक बछड़ा बंधा हुआ है और खूब रंभा रहा है। देखा कि रंभा रहा है। किसने इस बछड़े को बाँधकरके रखा है? किसका बछड़ा है? उन्होंने पूछा-जब हृदयराम से पूछा तब मालूम पड़ा कि वह बछड़ा, ऐसे ही घूमते-घामते दक्षिणेश्वर के बगीचे में आ गया था और हृदयराम ने ही उस बछड़े को बाँध करके रखा है। क्यों रे हृदु? तूने यह बछड़ा यहाँ पर बाँधकर के क्यों रखा?

मामा! ऐसे ही आ गया। कोई इसका मालिक नहीं है। मैं इसको गाँव भेज दूँगा। इसीलिए मैंने बाँध करके रखा है। यह हृदयराम की वृत्ति है। ऐसा हृदयराम अपने मामा की सेवा करता है। श्रीरामकृष्ण उसके लोभ को ताड़ लेते है और एक दिन जब देखा, लोभ की वृत्ति को बहुत प्रबल तो उन्होंने कहा-अरे हृदु देख! तू पैसे-पैसे की बात करता है, पर जानता है, मैं यह समझता हूँ, यह पैसा बिल्कुल मिथ्या है, यह जगत ही मिथ्या है।

हृदु! यदि यह जगत सत्य होता रे, यदि पैसा सत्य होता तो तेरे कामारपुकुर के जितने भी मकान हैं, सबको मैं सोने की बनवा देता, ऐसा मैं कर देता, सोने से मढ़ देता, परन्तु मैं जानता हूँ कि ये सब मिथ्या हैं।

यह अद्भुत मिथ्यात्व का भाव! मैत्रेयी का यही मानो प्रश्न के उत्तर में प्रति प्रश्न और तब याज्ञवल्क्य कहते हैं कि नहीं, अमरता तो इससे नहीं मिलती है। तो यह जो स्थिति है, तो यही स्थिति हम देखते हैं, यहाँ कृष्ण के जीवन

में है। एकदम निरसंगता है, निर्मोहता है। वहीं पर कहीं हम देखेगें आत्मतत्व की बात वहाँ पर पढ़ाने जा रहे हैं याज्ञवल्क्य, जब कहा मैत्रेयी ने कि उसको लेकर मैं क्या करूँगी, जिससे मुझे अमरता नहीं मिलेगी?

तब याज्ञवल्क्य कहते हैं-'ठीक है, तो तुम क्या चाहती हो?' 'मैं आत्मज्ञान चाहती हूँ, जिससे मुझे अमरता मिले।'

तब वह आत्मज्ञान की शिक्षा देते हैं। वहाँ पर ही वे कहते हैं-

न वा अरे पत्युःकामाय पतिः प्रियो भवति।

वहाँ पर यही कहेंगे-

आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति

न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवति।

आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति।

वहाँ पर हरेक मानो ऐसे एक-एक दृष्टान्त लेकर के याज्ञवल्क्य समझाते हैं कि देखो प्रिये! पत्नी को जो पति प्रिय होता है, वह पति के लिए नहीं, बल्कि पति के भीतर जो आत्मा है, उसके लिए प्यार होता है। जो आत्मा पति के भीतर है, वही आत्मा अपने स्वयं के भीतर है भले ही यह ज्ञान उस पत्नी को न हो, पर उसी एकात्मकता के कारण, पत्नी अपने पति को प्यार करती है। इसी प्रकार पति जो अपनी पत्नी को प्यार करता है, तो पत्नी के लिए नहीं करता, बल्कि वह जो आत्मा उसके भीतर में है, जो आत्मा पत्नी के भीतर है, तो उस एकात्मकता के कारण वह अपनी पत्नी को प्यार करता है। और यही बात वे समझाते हुए चले जाते हैं कि जो पुत्र को प्यार करता है तो पुत्र के लिए नहीं बल्कि पुत्र के भीतर अवस्थित आत्मा के लिए। तो उसी प्रकार जो सबको हम प्यार करते हैं, तो वह सबके लिए नहीं है लिए है। ऐसा जो समझाते हैं, ठीक यही ज्ञान भगवान कृष्ण यहाँ पर देते हैं गोपियों को। जब गोपियों ने उलाहना दी, कहा कि तुम बड़े निर्मोही हो, बहुत निष्ठुर हो, हम कितनी रुदन कर रही हैं और तुम हमें छोड़ करके चले गये हम तुम्हारी बांसुरी की तान सुन करके तुम्हारे आकर्षण में बंध करके यहाँ आईं, और तुम हमें इस प्रकार एकाकी छोड़करके चले गये तरह-तरह से उलाहना देती हैं और प्रश्न पूछती हैं कि तुम कैसे प्रेमी हो, तो कृष्ण कहते है कि तुमने जो तीन प्रकार की श्रेणियाँ गिनायीं मैं उनमें से एक भी नहीं हूँ।

मैं चौथी श्रेणी में हूँ और श्रेणी यह है कि मैं तुम्हारे भीतर में आत्मा को देखता हूँ इसीलिए तुमसे प्यार करता हूँ। श्रीरामकृष्ण और नरेन्द्रनाथ का उदाहरण है-क्योंकि इन उदाहरणों के माध्यम से श्रीकृष्ण के तत्वज्ञान को अच्छी तरह से समझ सकेंगे। नरेन्द्र के लिए श्रीरामकृष्ण पागल हैं। यही नरेन्द्र आगे चलकरके विवेकानन्द बने। श्रीरामकृष्ण पागल हैं। कुछ दिनों तक नहीं देख पाते तो बड़ी छटपटाहट होती है लोगों को गलतफहमी हो जाती है कि वे क्यों-प्यार करते हैं इतना, नरेन्द्र नहीं आता, नहीं आता सबसे कहते रहते हैं, नरेन्द्र नहीं आया-नरेन्द्र नहीं आया। नरेन्द्र देखने में बड़े सुन्दर थे, जिस समय नरेन्द्र को कोई देखता तो देखता ही रह जाता। एक तो उनका गौर वर्ण-आ... जब उनका चित्र देखते हैं-अमेरिका में ... प्रकाशित हुआ और यहाँ पर भी जो चित्र छपे हैं, तो चित्र जो छपे हैं देखकर के लगता है कि यह तो कोई दैवी पुरुष है।

जब पहली बार मैंने विवेकानन्द का चित्र ... यह ...

में पढ़ रहा था, तो एक सहपाठी के पास, मैने स्वामी विवेकानन्द का चित्र देखा। बड़ा विलक्षण चित्र था। मैंने कहा-अरे भाई! यह तो वता, यह किसी मानव का चित्र है, या किसी देवता का हैं। जैसे-हम देवता का चित्र कल्पना से अंकित करते हैं, भाव लाने की चेष्टा करते हैं, प्रभावोत्पादक जितने भी गुण हो सकते हैं, उन गुणों को चित्र में संयोजित करते हैं, तो वैसे ही जो वह विवेकानन्द का तिरंगा चित्र था-विदेश में छपा हुआ-एक पोस्टकार्ड। यह १६४२ की घटना है। तो जब मैंने अपने मित्र से पूछा कि अरे, यह किसी देवता का चित्र है या मनुष्य का है? मनुष्य का चेहरा तो ऐसा नहीं होता-तो उसने हँसकर के कहा-तू पढ़ न नीचे, नीचे तो वहीं लिखा था-स्वामी विवेकानन्द। मैंने कहा कि मैं समझ तो रहा हूँ-यह स्वामी विवेकानन्द नाम के कोई व्यक्ति थे, पर ये कौन थे? ऐसा भी लिखा है कि १८६३ में जन्म हुआ, १६०२ में उनकी मृत्यु हुई, पर मैं इनके सम्वन्ध में अधिक जानना चाहता हूँ। तव मुझे कोई ज्ञान नहीं था। पर चित्र को देखते ही मानो मैं उनके प्यार में पड़ गया कि कोई व्यक्ति इतना दिव्य हो सकता है? ऐसा अद्भुत चेहरा हो सकता है? तो मतलव क्या है? यह जो दिव्य चेहरा, वैसे भी नरेन्द्रनाथ तो वहुत सुन्दर थे और जव आप देखते हैं उनके चित्र को, तो उनके सौंदर्य का भान हो सकता है।

अव वे श्रीरामकृष्ण के पास आते हैं, उस समय १६-२० साल उनकी उमर है। कच्ची उमर है, तरुण हैं और ये श्रीरामकृष्ण छटपटा रहे हैं-नरेन आया नहीं, वहुत दिन से नहीं आया। कई लोग उनको गलत भी समझते हैं और कई वार नरेन्द्र हिदायतें भी दे चुके हैं। यह क्या महाशय! आप नरेन्द्र-नरेन्द्र करते रहते हैं, लोगों को क्या लगेगा? वे कोई अच्छी वात थोड़े ही मानेंगे? यही समझेंगे कि आपको आसक्ति हो गयी है मेरे प्रति। कई वार झिड़क चुके थे, पर श्रीरामकृष्ण ने नरेन्द्र में क्या नरेन्द्र को देखा था ? प्रश्न यह है। नरेन्द्र के प्रति उनका जो प्यार था, किसके लिए था? क्या नरेन्द्र का चेहरा देखकर के? उसका मोहरा देखकर के? उसके केवल गुणों को देखकर के, वल्कि नरेन्द्र के भीतर उन्होंने और कुछ को देखा था, जिसके कारण उनका प्यार वढ़ा था।

एक दिन की घटना है। एक कोई सज्जन आये, मिलने के लिए श्रीरामकृष्ण से। विलम्ब हो गया था इसलिए रात उनको दक्षिणेश्वर में रुकना पड़ा, अव वे कलकत्ता कल प्रातः काल जायेंगे। श्रीरामकृष्ण को मालूम पड़ा कि ये नरेन्द्र के घर के पास रहते हैं, तो उन्होंने सोने से पहले दो-तीन वार तो कह ही दिया-देखो जी, एक नरेन्द्र नाम का लड़का है, दत्त परिवार का है, सिमुलिया में उसका घर है, तुम जाना और कह देना कि मैं उसकी बहुत याद कर रहा था। देखो तो! कितने दिनों से नहीं आया है, मैंने अमुक-अमुक के माध्यम से उसके पास खबर भिजवाई, फिर भी वह नहीं आया है। भक्त ने कहा-ठीक है महाराज, मैं विल्कुल जाकर के उसको खबर कर दूँगा और कल सुबह जाकर के ही बता दूँगा। फिर से उन्होंने थोड़ी देर वाद कहा-देखो! भूल मत जाना, तुम जाते ही उसको वता देना। कहा-नहीं महाराज, मैं भूलूँगा नहीं, जाते ही नरेन्द्र को मैं खबर कर दूँगा और सो रहे हैं भक्त और मन ही मन सोचते हैं, यह नरेन्द्र भी कैसा निष्ठुर है? यहाँ देखो परमहंस देव उसको देखने को व्याकुल हैं और वह भी कैसा लड़का है कि यहाँ पर आता

नहीं। तो थोड़ी देर वाद श्रीरामकृष्ण फिर आ गये-अपनी धोती सम्हालते हुए, कहा-क्यो जी, तुम सो गये हो? भक्त ने उठकर के कहा-नहीं महाराज, मैं सोया नहीं हूँ। तुम्हें मेरी वात याद है न! तुम भूलोगे तो नहीं?

कहा 'नहीं महाराज! मैं भूलूँगा नहीं।' 'हाँ ठीक, तुम जाकर के, जाते ही नरेन्द्र को वता देना।'

फिर पुनः आधा घंटे वाद, मानो रात में सो ही नहीं पाये। भक्त अपने संस्मरण में लिखते हैं कि उस रात कम से कम सात आठ वार आकर के उन्होंने वारम्वार उन्हें चेतावनी दी, आगाह किया कि तुम मेरी वात भूलना नहीं और नरेन को जाकर के वता देना। जाते ही नरेन्द्र को वता दिया, अव नरेन्द्र उसके कुछ दिनों के वाद आया। आया भी तो उसमें अभिमान भरा था, आते ही उसने कहा कि यह क्या है महाराज? यह भी कोई तरीका है? आप जिस किसी से कहते हैं कि मैं नरेन को देखने के लिए व्याकुल हो रहा हूँ। नरेन कैसा लड़का है? आता नहीं है। यह क्या आपकी वात है? अरे, मैं नहीं आया दो महीने तो इसके लिए क्या वात है? तो देखिए, मुझे तो ऐसा लगता है कि आप मेरे प्रति आसक्त हो गये हैं। अव मुझे डर लगता है कि मरने के समय भी यदि आपकी आसक्ति वनी रही, तो राजा भरत के समान कहीं दुर्गति आपकी न हो जाय? आप तो खूव भागवत पढ़ते हैं। भागवत की कथा भी आप सुनाते हैं कि राजा भरत की दुर्गति हो गयी, मरने के समय हिरण शावक का चिन्तन होने लगा, इसीलिए मरने के वाद वे हिरण की योनि में गये। तो मुझे तो लगता है कि आपकी भी ऐसी ही दुर्दशा हो जायेगी, यदि आप इतने आसक्त मेरे प्रति रहे तो। नरेन्द्र सत्यवादी है, इसका कहना मिथ्या नहीं हो सकता।

श्रीरामकृष्ण को वात चुभ जाती है और एकदम से द्रुत पदों से जाते हैं-काली मंदिर में और मंदिर में जाकर के माँ की जो प्रतिमा है-जाकर के कहते हैं-माँ! क्या सचमुच यह मेरी आसक्ति है? देख तो, नरेन तो कहता है कि मेरी दुर्दशा होगी राजा भरत की तरह। क्या सचमुच मैं नरेन्द्र के प्रति आसक्त हूँ? वता न! मैं तो तेरा अवोध वालक हूँ, क्या मेरी नरेन्द्र के प्रति आसक्ति हो गयी? और इतना तेरा भजन पूजन के वाद मेरी भी वैसी दुर्दशा होगी? नरेन तो सत्यवादी है माँ, उसका कहना मिथ्या तो नहीं होग? अव श्रीरामकृष्ण मंदिर में जाकर के काली माता की प्रतिमा के सामने सव निवेदित कर रहे हैं और माता ने प्रसन्न करके उत्तर दिया। कितने हर्षित हो गये, छोटे वच्चे की तरह! उनका प्रश्न और उनका कहना तो सव सुनते हैं, पर माँ ने क्या उत्तर दिया यह तो केवल श्रीरामकृष्ण ने सुना और हँसते-हँसते एक छोटे वालक के समान दौड़ते-कूदते अपने कमरे में आते हैं और नरेन से कहते हैं-जा साला! तूने कहा तो मुझे चिन्ता हो गयी थी, माँ से जाकर के मैंने पूछा-माँ क्या मेरा मन सचमुच में आसक्त हो गया है? तो माँ ने क्या वताया है? जानता है? माँ ने कहा है कि तू नरेन के चेहरे पर मुझे देखता है, इसलिए तू नरेन को प्यार करता है। तो मैं तेरे चेहरे पर माँ को देखता हूँ, इसलिए तुझे प्यार करता हूँ और जिस दिन माँ तुझे चेहरे पर दिखाई नहीं देगी, उस दिन तुझे फूटी आँख भी नहीं देख सकूँगा। जा तू कहता है कि मुझे आसक्ति हो जायेगी। यह वात का तात्पर्य क्या है? किस लिए श्रीरामकृष्ण ने नरेन्द्र को प्यार किया? किसलिए कृष्ण

गोपियों को प्यार किया? इसलिए नहीं कि गोपियाँ सुन्दर थीं या गोपियाँ तरुणी थीं। गोपियों के भीतर में वही आत्मा का मधुर, जिसे कहेंगे हास्य झलकता था, वही आभा झलकती थी, जिसके लिए कृष्ण ने गोपियों को प्यार किया। तो कृष्ण क्या कहते हैं? तो कृष्ण कहते हैं कि गोपियों! तुमलोगों को वहुत गलतफहमी हो गयी है। तो यह जो तुम कहती हो तीन प्रकार की श्रेणियाँ, मैं तो श्रेणियों से वाहर हूँ। मैं प्यार इसलिए करता हूँ कि तुम्हारे भीतर इसी आत्मतत्व को देखता हूँ। और इसके वाद वे छोड़ करके चले जाते हैं। तो कभी भी तो वे एकवार सुरत लेते? उनकी सुधि लेते, कहीं पर उनकी सुधि लेते हुए दिखाई नहीं देते हैं। यह विलक्षण है। और कैसे विलक्षण है? वे पहले तो चेष्टा भी करते हैं, महाभारत का युद्ध टल जाय, इसकी चेष्टा वे करते हैं। जानते हैं कि ये काल हैं-उनकें मन में वह ईश्वरत्व विद्यमान है और वे कहते ही हैं-जिस समय उन्होंने विश्व रूप का दर्शन कराया-अर्जुन को।

ग्यारहवें अध्याय में हम पढ़ते हैं-अर्जुन ने जिस समय भगवान का वह विश्व-रूप देखा तो वह प्रकम्पित होने लगा। वहाँ पर वह क्या देखता है? यही देखता है कि ये सब के सब मरे पड़े हैं। और मरे पड़े हैं, यह तो देख रहा है और जब देखता है कि वड़े-वड़े उनके दाढ़ हैं। दाढ़ में ये सब झूल रहे हैं उस विश्व रूप के, तब तो अर्जुन हाथ जोड़कर के कहता है-प्रभो! मैं समझ नहीं पा रहा हूँ, आप कौन हैं? तव कृष्ण कहते हैं कि मैं काल हूँ, मैं वढ़ा हुआ काल हूँ और इस समय सवको समेटने के लिए आया हूँ। ये सव मेरे द्वारा मारे गये हैं। इनको मारने के लिए तू केवल निमित्त मात्र वन, सव्यसाची! यह वात भी भगवान कृष्ण कहते हैं। क्या तात्पर्य है? उन्हें किसी के प्रति मोह नहीं है। सृष्टि उन्हीं की है, पर सृष्टि में उन्होंने खरावी देखी, तो सृष्टि का नाश करवा दिया, इधर उन्होंने इसमें किसी प्रकार की कसर नहीं रखी कि दुर्योधन को मैं समझाने की चेष्टा करूँ। दुर्योधन नहीं समझता है और इसीलिए फिर वह महाभारत का युद्ध होता है। जब पूछा गया कि कौन दुर्योधन के पास संधि का प्रस्ताव लेकर के जायेगा तव कृष्ण स्वयं कहते हैं कि मैं जाऊँगा। मैं चला जाता हूँ और वे जाते हैं, संधि का प्रस्ताव लेकर के। दुर्योधन के समक्ष सभी वातों को, सभी पक्षों को प्रस्तुत करते हैं, चेष्टा करते हैं, जिससे यह युद्ध न हो-यह भी आप जानते हैं। परन्तु अन्ततोगत्वा युद्ध होता है। और युद्ध में भूमिका क्या रही? सभी को तो खतम करवा दिया। उन्होंने किसका पक्ष लिया? पाण्डवों के प्रति उनका प्यार था अधिक प्यार था। किसलिए प्यार अधिक था? इसलिए था कि उनका (पाण्डवों का) जो पक्ष था, वह न्याय का पक्ष था। पाण्डव न्याय के पक्षधर थे और यह जो दुर्योधन था वह तो अन्याय का पक्षधर था।

'जड़' यदि शक्तिशाली है, तो 'विचार' सर्वशक्तिमान है। इस विचार को अपने जीवन में जाग्रो और अपने आपको सर्वशक्तिमान्, महिमान्वित और गौरवसम्पन्न अनुभव करो। ईश्वर करे, तुम्हारा मस्तिष्क किसी कुसंस्कार डालनेवाले वातावरण में न रहे और कमजोरी तथा बुराई के विचारों से वचे।

—स्वामी विवेकानन्द

बुद्ध पूर्णिमा पर विशेष

बौद्धमत की वर्तमान प्रासंगिकता

-प्रो० कैलाश 'स्वच्छ

इस मत में तो कोई विवाद नहीं होना चाहिये कि ईसा वर्ष पूर्व पांचवी-छठी शताब्दी में अवतरित महात्मा बुद्ध की शिक्षा आज भी उपादेय एवं प्रासंगिक है। बुद्ध का संदेश सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक है। कालजयी बौद्धमत या बुद्ध-दर्शन की प्रासंगिकता आज विशेष रूप से उजागर हो उठी है। प्रसिद्ध चिंतक-आलोचक डा. ओमप्रकाश के शव्दों में 'गौतम का व्यक्तिगत प्रभाव इतना अधिक था कि उनके अनुयायी राजा-महाराजा तक हुए और विदेश में भी उनके मत का स्थायी प्रभाव पड़ सका। त्यागशीलता, तपस्या, दयालुता एवं करुणा आदि के धारक-संवाहक अवतारी पुरुष महात्मा बुद्ध ने दुखी प्राणियों के उद्धार या त्राण हेतु कर्म-सौन्दर्य अर्थात सात्विक कर्म की अनोखी मिसाल कायम की। महाकवि जयशंकर प्रसाद के शव्दों में 'दुःख का करके सत्य निदान, प्राणियों का करने उद्धार/सुनाने आरण्यक संवाद/तथागत आया तेरे द्वार।' हिंसा या रक्तपात में लिप्त सम्राट अशोक भी बुद्ध के अहिंसावाद के अनुयायी वन गये। बुद्ध-दर्शन या वौद्ध-मत के चमत्कार का प्रभाव अशोक पर पड़ा और मानस में परिवर्तन का ऐसा झंझावात उठ खड़ा हुआ कि उनकी हिंसामयी वृति जड़ से उखड़ गयी। क्या आज के हिंसक वर्ग पर वौद्ध मत का प्रभाव नहीं पड़ेगा?

तथागत ने 'अष्टांगिक मार्ग' अथवा 'मध्यमा प्रतिपदा' जैसे सर्वाधिक मत का प्रवर्तन किया जो भारतीयदर्शन या भारतीय संस्कृति की जीवनशक्ति है। 'अति' को ग्रहण करने मनुष्य को दुर्गति झेलनी पड़ती है। 'अति स वर्जयेत' के उपदेश को व्यावहारिक स्तर अमल में लाकर बुद्ध ने 'मध्यमा प्रतिप सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। वे जीवन अतिशय सुख-ऐश्वर्य का भोग कर चुके तथा अतिशय तपस्या द्वारा अपनी देह को त भी चुके थे। दोनों अतियों के बाद उन्हों मध्यम मार्ग निकाला। संत कवीरदास भी कि वस्तु या प्रवृत्ति की अतिशयता अधिकता व्यष्टि एवं समष्टि के लिए कष्टकारी ब हैं:-"अतिका भला न बरसना अतिकी भल धूप" आज के समाज में समन्वय या समरस का घोर अभाव है। यह कहा जा सकता है आज अति की बाढ़ ने सदाचार की नीति तहस-नहस कर दिया है। अति धन-संचय प्रवृति आज जोर पकड़ती जा रही है। उ तरह दैहिक सुख-भोग या स्वार्थपरता की अ को अपनाने वाले लोग सांस्कृतिक सद्गुणों कुठराघात कर रहे हैं। नेता, नौकरशाह, पूँजी एवं अन्य वर्ग के लोग भोगवादिता एवं धन-सं की अति पर उतारू हैं। उसी तरह संसार सुख-भोग का परित्याग कर संन्यास ग्रहण क वाले अर्थात केवल निवृति का मार्ग अपनाने भी प्रशंसा के पात्र नहीं हैं। अति तप या वैर भी लोकहित के लिए घातक है। संस्कृति संवाहक जयशंकर प्रसाद ने 'इरावती' उपन्य मे लिखा है-"अति सुन्दर बनाने के लोभ प्रायः वस्तु को वीभत्स बना दिया जाता है।

और देखो धर्म पाप बनता जा रहा है।" आज के युग में सौन्दर्य या फैशन के प्रति बढ़ती ललक ने भारतीय संस्कृति पर चोट पंहुचायी है और धर्म के नाम पर अपना काम निकालने वाले भी धर्म एवं संस्कृति का अहित करते हैं।

अतः बुद्ध के 'मध्यमा प्रतिपदा' की आज भी प्रासंगिकता है। बुद्ध के अष्टांगिक मार्ग के अन्तर्गत 'सम्यक् कर्मान्त' के अन्तर्गत महत्ता एवं उपयोगिता आज भी बनी हुई है। 'सम्यक कर्मान्त' के अन्तर्गत अहिंसा, अस्तेय तथा इन्द्रिय निग्रह है। बौद्ध धर्म में अहिंसा पर अधिक बल दिया गया है। अहिंसा को सर्वोपरि मानने के कारण ही तथागत ने हिंसा से संबंधित पांच आर्जीविकाओं के वर्जन पर जोर दिया है, वे हैं:- शस्त्र या हथियार का व्यापार, पशुओं का व्यापार, मांस का व्यापार, मद्य का व्यापार तथा विष का व्यापार। जाहिर है प्राणियों के लिए कष्टदायी व्यापारों को बुद्ध ने वर्जित करने का उपदेश दिया। यों किसी राष्ट्र-रक्षा के लिए संवद्ध राष्ट्र के द्वारा हथियार का आयात-निर्यात (दूसरे राष्ट्र से) शस्त्र का व्यापार नहीं है। महात्मा बुद्ध ने अहिंसा का संदेश दिया जो मानवता और विश्वमैत्री का पोषक है। अफसोस की बात है कि आज उग्रवाद या अन्य हिंसक तत्वों की खूनी हरकतों से मानवता आहत होती जा रही है। जाति, धर्म, वर्ग, प्रांत, राष्ट्र आदि के स्तर पर अहिंसा की कद्र होनी चाहिये, मगर बुद्ध की अहिंसा तो भ्रम या उन्माद से ग्रस्त कट्टर जातिवादी या संकीर्ण धार्मिकता के धारक व्यक्ति, गुट या राष्ट्र की मार से पीड़ित हो चीत्कार कर रही है। आज क्या अशोक या अन्य बुद्ध के अनुयायी की तरह वे हिंसक तत्त्व 'बुद्धं शरणं गच्छामि' का व्रत नहीं ले सकते? 'अस्तेय' अर्थात चोरी नहीं। आज इस अस्तेय की धज्जियाँ उड़ायी जा रही हैं। यों अहिंसा, अस्तेय आदि सद्गुणों की चर्चा अन्य धर्म ग्रन्थों में मिलती है, पर बुद्ध ने उन्हें नया तेवर प्रदान किया था। वैदिक युग में (बौद्ध धर्म से पूर्व) यज्ञ में की गयी पशुओं की हिंसा को हिंसा नहीं माना जाता था। महात्मा बुद्ध ने यज्ञ में की गयी पशु-हिंसा के वर्जन का उपदेश दिया। अस्तेय या अपरिग्रह को भी बौद्ध-धर्म में अधिक महत्व प्राप्त है अपरिग्रह अर्थात धन का संग्रह नहीं करना। आज तो येन-केन प्रकारेण दूसरे के धन को या राष्ट्र के धन को हड़प लेने की प्रवृति ने मनुष्य को भ्रष्ट एवं दुराचारी वना दिया है। अतएव, आज बौद्धमत के अन्तर्गत ग्राह्य अस्तेय या अपरिग्रह अपना कर सत्कर्म या सात्विक कर्म के पथ पर कदम वढ़ाने की जरूरत है। अतिशय धन-संचय के फेर में पड़कर मनुष्य स्वार्थपरस्त तथा राष्ट्र एवं संस्कृति का शत्रु या द्रोही बन गया है। 'ईशोपनिषद्' में भी 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा' अर्थात त्याग भाव से जीवन के पालन करने की बात कही गयी है। 'गीता' में भी 'सात्विक त्याग' के महत्व का प्रतिपादन किया गया है। एतदर्थ, तथागत के 'अष्टांगिक मार्ग' में निहित सम्यक दृष्टि और सम्यक संकल्प को आचरण में लाना होगा। 'प्रज्ञा' से पूरित व्यक्ति ही उचित-अनुचित की पहचान कर सकता है। 'दुराचरण एवं उसके मूल कारण तथा सदाचरण एवं उसके मूल कारण की पहचान सम्यक दृष्टि है।' बुद्ध के अनुसार प्रज्ञावान पुरुष दुःख या संघर्ष को झेलकर भी जीवन के प्रति संतोष व्यक्त करते हैं।

देकर दुख दूर करना। क्या तू देख नहीं रहा है, मेरे मुख पर प्रभामंडल का घेरा! यह जन्म, ज्ञान प्राप्ति और निर्वाण की वेला में ही तथागत के मुख पर छा जाता है। आ चलें कुशीनगर की ओर।

रात थोड़ी शेष रह गयी थी। और रोग -जरा-जर्जर तन भी अतिक्षीण हो चुका था। मंथर गति से, मुख पर प्रदीप्त आभा मंडल लिये वे आगे वढ़ते ही रहे। साथ में स्थविर आनंद और कुछ वरीय भिक्षु। आनंद चिंतित, विषादमग्न भारी मन से कुशीनगर विहार के निकट शालवन में पहुंचे। अभी सूरज को अस्त होने में देर थी। वुद्ध को शाल के पत्तों की शय्या पर दो पेड़ों के वीच लिटाया गया। सिरहाने में शिला ही तकिया का काम कर रही थी।। गौतम वुद्ध ने धीमे से कहा-आनंद, जाओ, मल्लों को सूचित करो कि तथागत निर्वाण के लिए उनके उपवन में हैं। संवादी जव कुशीनगर पहुंचा तो देखा कि वे अपनी संसद में विचार-विमर्श में मग्न थे। उन्हें ज्योंही संवाद मिला-वे दुखी, शोक-पीड़ित हो चल पड़े तथागत के अंतिम दर्शन के लिए।

इधर तथागत के तन की दारुण दशा को देख आनंद इतना मर्माहत हो गये कि वहां एक क्षण भी रुकना संभव न हो सका। वे विहार में खड़े फफक-फफक कर, विलख-विलख कर रोने लगे। निर्वाण के इन क्षणों में कुशीनगर वन प्रांतर के सभी भिक्षु उन्हें चारो ओर से घेरे हुए थे। उसी क्षण एक जिज्ञासु द्वार पर उपस्थित हुआ। भिक्षु द्रोण ने कहा-शास्ता गंभीर रूप से अस्वस्थ हैं। लौट जाओ। यह शंका समाधान का समय नहीं। जीवन के इस क्षण में भी वुद्ध ने सुना तो उसे वुलाया और धीमे स्वर में 'आर्य अष्टांगिक मार्ग' का उपदेश देकर सवको कृतार्थ किया। उपदेश देने के वाद उन्होंने चारो ओर आंखें घुमाकर देखा तो उनमें उनके पचपन वर्ष की उम्र से उपस्थापक (सेवक) रहे महास्थविर आनंद नहीं हैं, तो उन्होंने भिक्षुओं से पूछा-भिक्षुओ! आनंद कहां है? एक भिक्षु ने कहा-तथागत! आनंद दुख-विह्वल हो विहार में विलख-विलख कर रो रहे हैं। उन्होंने कहा-जाओ, आनंद को अभी वुला लाओ। कुछ ही मिनटों में आंसू पोंछते आनन्द तथागत के चरणों के पास मौनभाव से आये। वुद्ध ने कहा-आनंद मेरी निर्वाण-वेला पर तुम वच्चों की तरह यों रोते हो! मेरी शिक्षाका क्या यही अर्थ है? आनंद, निर्मोह हो शोक-दुख सहन करो। जिस 'क्षण' मनुष्य जन्म लेता है, उसी क्षण से प्राण-यात्रा का शुभारम्भ होता है। प्राणज्योति जब अनंत में विलीन हो जाती है, तो लौकिक जीवन का विराम हो जाता है।

एक दुखी जिज्ञासु भिक्षु ने पूछा-शास्ता! आप जा रहे हैं हमें छोड़कर तो आपका अपना उत्तराधिकारी कौन होगा? यह संघ या राहुल? उन्होंने कहा-भिक्षुओ! सुनो, न संघ न राहुल। मैंने ज्ञान प्राप्ति के उपरांत आधी शताब्दी तक सद्धर्म का उपदेश दिया। मेरा सच्चा उत्तराधिकारी 'धर्म' ही होगा। यह सुनकर सभी भिक्षु उनकी निर्मोहता गुनकर भावविह्वल हो गये। धन्य-धन्य के उद्घोष से वह वनप्रांतर गूंज उठा। तथागत करवट बदल ही रहे थे कि दूसरे भिक्षु ने हाथ जोड़ विनम्रता से पूछा-शास्ता, हम आपके अंतिम वचन सुनने के लिए लालयित हैं। हमें अपने अमृत वचनों से कृतार्थ करें। तथागत ने कहा-प्रिय भिक्षुओ! मुझे कुछ नया उपदेश नहीं देना है। फिर भी सुनो-

'वयधम्मा संसाराः। अप्पमा देव वर्तशाः। एष मे पश्चिमाः यात्राः। (संसार अनित्य है। जब तक जीओ, जीवन के कर्तव्यों का प्रमाद रहित हो पालन करो। यही मेरे अंतिम वचन हैं।)

यह अंतिम उपदेश दे वे दाहिनी करवट लेट गये। अमिताभ की प्राणयात्रा ज्ञान-प्रकाश का विसर्जन करते-करते शेष हो गयी। जब तक कुशीनगर निवासी आवें तब तक बुद्ध गुजर चुके थे। उन्होंने अश्रुओं के अर्ध्य से तिलांजलि दी।

गौतम बुद्ध ने जिस सद्धर्म के चक्र का प्रर्वतन किया उसके छब्बीस सौ वर्ष हो चुके। सम्राट अशोक, संघमित्रा, महेन्द्र, अश्वघोष, नागार्जुन, कुमार पालित, बुद्धघोष और दीपंकर प्रभृति महान् बौद्ध संतों ने बौद्ध धर्म को विश्व धर्म के प्रशस्त पथ पर अग्रसर किया। बुद्ध का व्यापक चिंतन अहिंसा, करुणा, मैत्रीदृष्टि, शांति के चार स्तम्भों पर आधारित है। यह भारत, लंका, चीन, जापान, समस्त दक्षिण-पूर्व एशिया तथा पश्चिम एशिया के बड़े भूभाग में फैल गया। आज भी उसका संघर्ष जारी है अंधकार के खिलाफ रोशनी की तलाश के लिए। तभी तो बुद्ध ने कहा था-

अंधकारेन ओवर्द्धी पदीपं न गवेसथ- धम्मपद चारो ओर घना अंधकार है। प्रकाश की तलाश क्यों नहीं करते। गौतम बुद्ध शांति, मैत्री, करुणा के उज्ज्वल प्रतीक हैं, प्रेरक हैं।

त्याग

विवश होकर कुछ भी मत करो। विवश होकर भला क्यों करोगे? 'जो कुछ भी तुम विवश होकर करते हो, उससे आसक्ति उत्पन्न होती है।' तुम्हारा अपना कोई कर्तव्य क्यों होना चाहिए? सब कुछ ईश्वर को ही अर्पण कर दो। इस विशाल भभकती भट्ठी में जिसमें कर्तव्यरूपी अग्नि सभी को झुलसाती रहती है, तुम अमृत के इस प्याले का पान करो और प्रसन्न रहो। हम सब केवल उस प्रभु की इच्छा का पालन कर रहे हैं और किसी प्रकार के पुरस्कार अथवा दण्ड से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं। यदि तुम पुरस्कार के इच्छुक हो, तो तुम्हें साथ ही दण्ड भी स्वीकार करना पड़ेगा। दण्ड से छुटकारा पाने का केवल यही उपाय है कि तुम पुरस्कार का भी त्याग कर दो। क्लेश मुक्त होने का एक मात्र उपाय यही है कि तुम सुख की भावना का भी त्याग कर दो, क्योंकि वे दोनों एक साथ गुँथी हुई हैं। यदि एक ओर सुख है, तो दूसरी ओर क्लेश; एक ओर जीवन है; तो दूसरी ओर मृत्यु। मृत्यु से छुटकारा पाने का एक मात्र उपाय यही है कि जीवन के प्रति आसक्ति का त्याग कर दो। जीवन और मृत्यु, दोनों पृथक दृष्टिकोणों से देखी जानेवाली एक ही वस्तु है। अतएव 'दुःखशून्य सुख' एवं 'मृत्युशून्य जीवन' की भावना, सम्भव है स्कूल के छोटे-छोटे बच्चों के लिए ठीक हो, परन्तु एक चिन्तनशील व्यक्ति को वे परस्पर विरोधी लगती हैं और वह इन दोनों का परित्याग कर देता हैं जो कुछ तुम करो, उसके लिए किसी प्रकार की प्रशंसा अथवा पुरस्कार की आशा मत रखो। ज्यों ही हम किसी सत्-कार्य में चंदा देते हैं, त्यों ही हम चाहने लगते हैं कि हमारा नाम अखबारों में खूब चमक उठे। ऐसी वासनाओं का फल दुःख के अतिरिक्त और क्या होता? संसार के सर्वश्रेष्ठ महापुरुष अज्ञात ही चले गये। जिन बुद्धों तथा ईसा मसीहों को हम जानते हैं, वे उन महापुरुषों की तुलना में द्वितीय श्रेणी के हैं, जिनके बारे में संसार कुछ जानता तक नहीं। प्रत्येक देश में चुपचाप अपना कार्य करते रहनेवाले सैकड़ों महापुरुष हुए हैं। चुपचाप वे अपना जीवन व्यतीत करते हैं और चुपचाप इस संसार से चले जाते हैं; समय पाकर उनके विचार बुद्धों और ईसा मसीहों में व्यक्त होते हैं और हम केवल इन्हीं बुद्धों और ईसा मसीहों को जान पाते हैं। सर्वश्रेष्ठ महापुरुष अपने ज्ञान से किसी प्रकार की यशः प्राप्ति की कामना नहीं रखते। ऐसे महापुरुष तो केवल संसार के हित के लिए अपने विचार छोड़ जाते हैं; वे अपने लिए किसी बात का दावा नहीं करते और न अपने नाम पर कोई सम्प्रदाय अथवा धर्मप्रणाली ही स्थापित कर जाते हैं। उनका स्वभाव ही इन बातों का विरोधी होता है। ये महापुरुष शुद्ध सात्विक होते हैं; वे केवल प्रेम से द्रवीभूत रहते हैं।

स्वामी विवेकानन्द
विवेकानन्द साहित्य
तृतीय खड, पृ० सं०-७७-७८

करनधार सद्गुरु दृढ़ नावा

-स्वामी शशांकानन्द
सचिव, रामकृष्ण मिशन आश्रम, राँची।

(भवसागर में डूबते हुए प्राणियों के लिए किस नाव का सहारा लेना चाहिए? गुरु पूर्णिमा के शुभ अवसर पर इसी प्रश्न का समाधान करने का प्रयास इस लेख में रामकृष्ण मिशन आश्रम, राँची के मनीषी सचिव, स्वामी शशंकानन्द जी महाराज ने किया है।)

व्यवहार में अनेक गुरु हो सकते हैं परन्तु परमार्थ में केवल एक ही गुरु होना चाहिए। आध्यात्मिक गुरु या पारमार्थिक गुरु एक ही होते हैं और उन्हें ही सद्गुरु कहते हैं। वे सत्य तत्त्व के उपदेशक, सहृदय तथा दयाशील होते हैं और बड़े भाग्य से ही प्राप्य हैं। साधारण गुरु व्यावहारिक शिक्षा दे सकते हैं किन्तु वे शिष्य के अज्ञान, मोह और भवताप को नहीं कह सकते। शिष्य को पापमुक्त नहीं कर सकते। यह शक्ति तो केवल सद्गुरु में ही होती है।

स्वामी विवेकानन्दजी कहते हैं, "सच्चा गुरु वही है, जो इस मायारूपी संसार के पार ले जाता है, जो कृपा करके सब मानसिक आधि -व्याधि विनष्ट करता है। सच्चा गुरु वही है, जिसके द्वारा हमको अपना आध्यात्मिक जन्म प्राप्त हुआ है। धर्म की आँखें खोलने वाला ही गुरु होता है।

"एक सच्चा गुरु शिष्य से कहेगा 'जा और अब पाप न कर', और शिष्य अब पाप नहीं कर सकता-उस व्यक्ति में पाप करने की शक्ति नहीं रहती।"

-(वि.सा. भाग-३ पृ.-१६८)

यदि कोई सोचे कि ग्रन्थ या शास्त्र के अध्ययन से ही वह आत्मज्ञानी हो जाएगा तो स्वामी विवेकानन्द जी कहते हैं, "मैंने बाइबिल और इस प्रकार के सब ग्रन्थ पढ़े हैं; वे अद्भुत हैं। पर जीवन शक्ति तुमको पुस्तकों से नहीं मिल सकती। वह शक्ति, जो एक क्षण में जीवन्त प्रकाशवान् आत्माओं से ही प्राप्त हो सकती है, जो समय-समय पर हमारे बीच में प्रकट होती रहती है, केवल वे ही गुरु होने के योग्य हैं।"

-(वि.सा. भाग-३ पृ.-१६८)

सद्गुरु की शक्ति इतनी महान होती है कि उसकी उपस्थिति मात्र से शिष्य के पाप-ताप, मोह और संशय नष्ट हो जाते हैं। स्वामी विवकानन्दजी का कथन है, "गुरु एक सोलह वर्ष का बालक था, उसने एक अस्सी वर्ष के वृद्ध को शिक्षा दी। गुरु की शिक्षण विधि मौन थी; और शिष्य की सब शंकाओं का सदा के लिए समाधान हो गया। यह है गुरु।"

श्रीरामकृष्ण देव ने भी कहा है, 'यदि सद्गुरु हो तो जीव का अहंकार तीन ही पुकार में दूर होता है। गुरु कच्चा हुआ तो गुरु की भी दुर्दशा और शिष्य की भी। शिष्य का अन्धकार दूर नहीं होता और न उसके भव-बन्धन की फाँस ही कटती है।

रामचरितमानस में ऐसे सद्गुरु की वन्दना गोस्वामी तुलसीदास जी ने इस प्रकार की है:

बंदउँ गुरुपदकंज कृपा सिंधु नर रूप हरि।
महामोह तम पुंज जासु वचन रविकर निकर।।

-"मैं उन गुरु महाराज के चरणकमलों की वन्दना करता हूँ, जो कृपा के समुद्र और नररूप में श्रीहरि ही हैं और जिनके वचन महामोह रूपी घने अंधकार को नाश करने के लिए सूर्य की किरणों के समूह हैं।"

रामचरितमानस के उत्तराकाण्ड में मर्यादा पुरुषोत्तम् भगवान् श्रीराम कहते हैं:

कबहुँक करि करुना नर देही।
देत ईस बिनु हेतु सनेही।।
नरतनु भव बारिधि कहुँ बेरो।
सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो।।
करनधार सद्गुरु दृढ़ नावा।
दुर्लभ साज सुलभ करि पावा।।

-''चौरासी लाख योनियों में भटकते हुए जीव पर कभी करुणा करके अहेतुकी करुणा सिंधु स्नेह वश मानव शरीर देते हैं। यह मनुष्य का शरीर भवसागर (से) तारने के लिए बेड़ा(जहाज) है। मेरी कृपा ही अनुकूल वायु है। सद्गुरु इस मजबूत जहाज के कर्णधार हैं। इस प्रकार दुर्लभ साधन सुलभ होकर उसे(भाग्यशाली जीव को) प्राप्त हो गए हैं।

सद्गुरु होने की योग्यता बिरले व्यक्ति ही रखते हैं पर पृथ्वी इनसे शून्य नहीं होती। स्वामी विवेकानन्द ने कहा है, "इसमें सन्देह नहीं कि ऐसे गुरु इस संसार में कम मिलते हैं; पर ऐसा भी नहीं है कि जगत् उनसे बिल्कुल शून्य हो। जिस क्षण यह संसार ऐसे गुरुओं से रहित हो जाएगा, यह घोर नरक बनकर झड़ जायेगा। ये गुरु ही मानव जीवन के सुन्दर तथा अनुपम पुष्प हैं, जो संसार को चला रहे हैं। जीवन के इन हृदयों के द्वारा व्यक्त शक्ति ही समाज की मर्यादा को सुरक्षित रखती है।"

-(वि.सा. ६-२६)

श्रीरामकृष्णदेव के अनुसार सद्गुरु तीन प्रकार के होते हैं-उत्तम, मध्यम और अधम। जो वैद्य केवल नाड़ी देखकर दवा की व्यवस्था करके चला जाता है, रोगी से इतना कह जाता है कि दवा खाते रहना, वह अधम श्रेणी का वैद्य है।

'उसी प्रकार कुछ आचार्य केवल उपदेश दे जाते हैं परन्तु उस उपदेश से शिष्य को अच्छा फल प्राप्त हुआ या बुरा, इसका फिर पता नहीं लेते।'

'दूसरी श्रेणी के वैद्य ऐसे होते हैं जो दवा की व्यवस्था करके रोगी से दवा खाने के लिए कहते हैं। अगर रोगी नहीं खाना चाहता, उसे तरह-तरह से समझाते हैं। वह मध्यम श्रेणी का वैद्य है। उसी प्रकार वे आचार्य भी मध्यम श्रेणी के होते हैं जो शिष्य को उपदेश करते हैं और तरह-तरह से शिष्य को तदनुसार आचरण करने के लिए समझाते भी हैं।'

'अन्तिम और उत्तम श्रेणी के वैद्य वे हैं जो मीठी बातों से न मानने पर बल का भी प्रयोग करते हैं। जरूरत होती है तो रोगी की छाती पर घुटना रखकर जबरन दवा पिला देते हैं। उसी प्रकार उत्तम श्रेणी के भी आचार्य हैं। ईश्वर के मार्ग पर लाने के लिए वे शिष्यों पर बल तक का प्रयोग करते हैं।'

मानसकार ने भी बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है :-

सचिव वैद्य गुरु तीनि जौं प्रिय बोलहिं भय आस।
राज धर्म तन तीनि कर होइ बेगहिं नास।।

-अर्थात् मन्त्री, वैद्य और गुरु ये तीन यदि भय या आशा से उचित उपदेश न दें तो राज्य, शरीर और धर्म-इन तीन का शीघ्र नाश हो जाएगा।

अतः मन्त्री, वैद्य और गुरु को उचित सलाह देनी चाहिए चाहे उसे उसके लिए प्राण क्यों न गवाँने पड़ें। उत्तम श्रेणी के गुरु तो वे हैं जो शिष्य से जबरदस्ती साधन करा लेते हैं।

तुम्ह त्रिभुवन गुर वेद बखाना।

उपर्युक्त गुरु से परे गुरुओं की एक श्रेणी होती है जो मानवमात्र पर अनुकम्पा करने के लिए इस पृथ्वी पर आते हैं। वे गुरुओं के भी गुरु होते हैं-स्वयं भगवान् मनुष्य रूप में अवतरित होते हैं। वे लोक शिक्षा के लिए आते हैं और युगपरिवर्तन करने की क्षमता रखते हैं। उन्हें हम भगवदावतार कहते हैं। जैसे-भगवान् श्रीराम, श्रीकृष्ण, चैतन्य महाप्रभु, बुद्धदेव, श्रीरामकृष्ण देव। श्रीरामकृष्ण ने स्वयं ही कहा है:-

"हर एक गुरु नहीं हो सकता। लकड़ी का गोला पानी में स्वयं भी बहता हुआ चला जाता हे और अनेक जीव-जन्तु भी उस पर चढ़कर जा सकते हैं। पर मामूली लकड़ी पर चढ़ने से लकड़ी भी डूब जाती है और जो चढ़ता है वह भी डूब जाता है। इसलिए ईश्वर युग-युग में लोक-शिक्षा के लिए गुरु रूप में अवतीर्ण होते हैं। सच्चिदानन्द ही गुरु हैं।"

मानस में आदि गुरु भगवान् शंकर को गुरु रूप में प्राप्त कर माँ पार्वती जी ने कहा था:-

तुम्ह त्रिभुवन गुर वेद बखाना।
आन जीव पाँवर नहीं जाना ॥

:: कृपा-सिंधु नररूप हरि ::

श्रीरामकृष्ण देव कहते हैं,"एक सच्चिदानन्द को छोड़कर और कोई गुरु नहीं है, इनके बिना कोई उपाय नहीं है। एकमात्र वे भवपार ले जाने वाले हैं।"

स्वामी विवेकानन्द ने कहा है,"मनुष्य में वह शक्ति ही कहाँ है कि वह दूसरे को संसार बन्धन मुक्त कर सके? यह भुवन मोहिनी माया जिनकी है वे ही इस माया से मुक्त कर सकते हैं। सच्चिदानन्द को छोड़कर और दूसरी गति है ही नहीं।"

तब क्या हम मनुष्य गुरु को अस्वीकार कर दें और अवतार रूप में आए हुए सच्चिदानन्द गुरु की प्रतीक्षा में बैठे रहें? नहीं, श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्दजी के कथन का यह अर्थ नहीं है। भगवान् तो इस धराधाम पर ५०० वर्ष या १००० वर्ष बाद अवतीर्ण होते हैं और वह भी कुछ वर्षों के लिए। किन्तु मानव शरीरधारी सद्गुरु तो पृथ्वी पर सब समय ही रहते हैं। सच्चिदानन्द भगवान् मानव देह के बिना ही आकर किसी मनुष्य को शिष्य बना लें यह तो सम्भव नहीं है।

विद्युत शक्ति हमें बिना बल्ब या ट्यूब लाइट के प्रकाश नहीं दे सकती, बिना पंखे के हवा नहीं दे सकती, बिना हीटर के गर्मी नहीं दे सकती, बिना रेडियो के ध्वनि नहीं सुना सकती। यद्यपि विद्युत शक्ति ही इन सब यंत्रों के माध्यम से सभी कार्यों का मूल है किन्तु उपयोगी होने के लिए कार्य करने हेतु इसे इन यंत्रों का आश्रय लेना पड़ता है। उसी प्रकार सच्चिदानन्द ईश्वर ही गुरु हैं, किन्तु शिष्य पर कृपा करने के लिए, उसे धर्म दीक्षा देने के लिए सच्चिदानन्द गुरु ही मनुष्य रूप धारण करते हैं-मानव देहधारी गुरुदेव के माध्यम से ही सच्चिदानन्द गुरु शिष्य का उद्धार करते हैं। मेरे गुरुदेव पूज्य श्रीमत् स्वामी माधवानन्दजी महाराज कहते थे, 'मैं गुरु नहीं, गुरु तो सच्चिदानन्द भगवान् स्वयं ही हैं, सच्चिदानन्द भगवान् ही तुम्हारे गुरु हैं, मैं तो केवल लाउड स्पीकर हूँ। माइक पर बोलने वाले तो सच्चिदानन्द गुरु ही हैं।''

रामचरितमानस में गोस्वामी तुलसीदासजी का अपने गुरु के प्रति ऐसा ही भाव देखा जाता है। गुरु वन्दना करते हुए वे लिखते हैं,

''बंदउँ गुरुपदकंज कृपा-सिंधु नररूप हरि''

-अर्थात् मैं उन गुरु महाराज की वन्दना करता हूँ, जो कृपा के समुद्र और मनुष्य रूप में श्री हरि ही हैं। गोस्वामीजी का संकेत बड़ा ही मार्मिक है-मनुष्य(गुरुदेव) में श्रीहरि ही हैं।' यद्यपि देखने में नर देहधारी गुरु साधारण मनुष्य के समान ही लगते हैं, परन्तु वास्तविक व्यक्ति तो श्रीहरि ही हैं।। अतः गुरु में साधारण बुद्धि नहीं रहनी चाहिए। स्वामी विवेकानन्द ने कहा है-

'तुमको एक गुरु, एक सच्चा गुरु खोजना चाहिए और तुमको यह याद रखना चाहिए कि वह केवल मामूली मनुष्य नहीं होता। वह भौतिक मनुष्य नहीं होता। वह वह नहीं होता, जो तुम्हारी आँखों को दिखाई देता है। यह हो सकता है कि गुरु तुम्हारे पास मनुष्य के रूप में आये और तुम उससे शक्ति प्राप्त करो, कभी-कभी वह स्वप्न में आएगा और संसार को कुछ दे जाएगा। गुरु की शक्ति हम तक अनेक प्रकार से आ सकती है। पर हम साधारण नश्वर प्राणियों के लिए गुरु को ही आना चाहिए और उसके आने तक तैयारी चलती रहनी चाहिए।

-(वि.सा.३, १६६-६७)

अब मन में एक प्रश्न उठ सकता है-जब गुरु भौतिक शरीर नहीं होता उसके भीतर निहित सच्चिदानन्द परमात्मा होता है तो दिखने वाले गुरु के शरीर के प्रति श्रद्धा और भक्ति कैसे कर सकते हैं?

इसे इस प्रकार समझ लीजिए। प्रकाश देने वाला बल्ब विद्युत शक्ति नहीं है किन्तु जलता बल्ब प्रकाश देता है और छूने से गर्म भी लगता है। किसी-किसी स्थान पर छूने से झटका भी मारता है। बिजली का तार विद्युत शक्ति नहीं है, परन्तु विद्युत-प्रवाह के समय उसे छूने से ही उठाकर दूर फेंक देगा। अतः बल्ब और विद्युत-शक्ति अभिन्न है। उसी प्रकार से सच्चिदानन्द ही गुरु हैं और गुरु उनका चिन्मय रूप है। गुरु का शरीर-दर्शन उनका दर्शन है, गुरु की पूजा-अर्चना उनकी पूजा अर्चना है। कृपा-सिन्धु नररूप हरि हैं वे'। गुरु साक्षात् परमेश्वर हैं, इस भाव को रखने वाले को ही सच्चिदानन्द की प्राप्ति होती है, अन्य को नहीं।

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः
गुरु साक्षात्परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः।।

तंत्र में भी कहा है :-

'गुरौ मनुष्य बुद्धिन्तु मन्त्रे चाक्षरभावनम्।
प्रतिमासु शिलाज्ञानं कुर्वाणो नरकं व्रजेत।।

"-अर्थात् गुरु में मनुष्य बुद्धि करने, ईष्ट मंत्र को अक्षर मात्र समझने से और देव-देवी की प्रतिमा को मिट्‌टी या पत्थर समझने से मनुष्य नरकगामी होता है।"

सच्चिदानन्द भगवान् मनुष्यरूप में गुरु बनकर इसलिए आते हैं कि मनुष्य की भाषा मनुष्य सहज रूप में समझ सकता है। रामचरितमानस में इस सत्य का एक सुन्दर उदाहरण मिलता है।

समुझइ खग खग ही कै भाषा

गरुड़जी ने भगवान श्रीराम के अवतार की बात सुनी थी। इधर जब श्रीराम नागपाश में बंध गये तो नारदजी ने गरुड़जी का नागपाश काटकर श्रीरामक को मुक्त करने के लिए भेजा। अपने स्वामी वैकुण्ठवासी भगवान् श्री विष्णु के अवतार श्रीराम के बन्धन तो गरुड़जी ने काट दिये, किन्तु उनके मन में एक बड़ा भारी संशय उत्पन्न हुआ।

भव बंधन ते छुटहिं नर जापि जासुकर नाम।
खर्व निसाचर बाँधेउ नाग पास सोइ राम।।

अर्थात्-"जिसका नाम जपकर मनुष्य भव-बंधन से छूट जाते हैं, उन्हीं राम को एक तुच्छ राक्षस ने नागपाश में बाँध लिया।"

बार-बार अपने मन को समझाने पर भी गुरुड़ जी सन्देहमुक्त न हो सके। मोह से व्याकुल होकर वे नारदजी के पास गये। नारदजी को उन पर बहुत दया आयी। किन्तु, स्वयं प्रभु की मोहिनी माया के द्वारा बहुवार ठगे जाने के कारण उन्होंने गरुड़जी का संदेह दूर करने में अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए उन्हें ब्रह्माजी के पास भेजा। ब्रह्माजी ने भी सोचा कि प्रभु की माया बड़ी ही प्रबल है। इससे बड़े-से-बड़े ज्ञानी, ऋषि, महर्षि मोहित हो जाते हैं। ब्रह्माजी स्वयं भी प्रभु की माया से कई बार व्याप्त हो चुके थे। अतः उन्होंने गरुड़जी से कहा, "जान महेस राम प्रभुताई" प्रभु की लीला का रहस्य भगवान् शंकर को ही मालूम है। भगवान् शंकर प्रभु के अवतार को तत्त्व से जान लिया है। वे तो निरन्तर प्रभु 'श्रीराम' का नाम जपते रहते हैं और नाम के प्रताप से उनके सामने सब रहस्य उद्‌घाटित हो गये हैं। इसलिए उन्हें छोड़कर और कोई भी गरुड़ के संदेह का निवारण नहीं कर सकता। इसलिए उन्होंने कहा-

बैनतेय संकर पहिं जाहू।
तात अनत पूछहु जनि काहू।।
तहँ होइहि तब संशय हानी।
चलेउ विहंग सुनत विधि बानी।।

अर्थात्-"हे गरुड़ तुम भगवान शंकर के पास जाओ। हे तात्! और किसी से अपनी शंका का समाधान नहीं पूछना। एक मात्र उन्हीं के पास तुम्हारी शंका का निवारण होगा। ऐसा सुनकर गरुड़जी भगवान् शंकर के पास चले।

भगवान् शंकर उस समय कुवेर के घ[र] जा रहे थे और जगदम्बा कैलास पर थीं। भगवान् शंकर से गरुड़जी की भेंट रास्ते में हु[ई]। गरुड़जी ने श्रद्धा पूर्वक भगवान् शंकर क[ो] प्रणाम किया और उन्हें अपना संदेह सुनाया।

यहाँ भगवान् शंकर ने समस्त साधकव[र्ग] के लिए कहा है कि संदेह निवारण तो त[ब] होता है जब दीर्घकाल तक सत्संग करके म[न] पवित्र हो जाये। यह रास्ते में चलते हुए पूछ[ने] की बात नहीं है। बहुत वार ऐसी घटना घटती है-कभी रेलगाड़ी में तो कभी बस में [या] किसी दुकान में सौदा खरीदते हुए व्यक्ति सांसारिक वार्तालाप करते हुए अचानक हमा[रा] गेरुआ वस्त्र देखकर पूछने लगते हैं, "स्वामीज[ी] भगवान् को कैसे पाया जाए?" "महाराज[जी] मन को वश में कैसे करें?" वास्तव में प्रश्न-प्रश्न के लिए किये जाते हैं, उत्तर पाने [के] लिए नहीं। मन तो अस्थिर है और प्रश्न पू[छ] बैठे। यदि कहीं उत्तर दिया भी जाए तो दे[खा] जाता है कि प्रश्न करने वाले ऊब जाते [हैं] इधर-उधर देखने लगते हैं। ये जिज्ञास[ाएँ] निष्ठाहीन और व्यर्थ होती हैं।

प्रभु की महिमा जानने के लिए, भगव[ान्] के चरणों में भक्ति और अनुराग प्राप्त करने [के] लिए उनकी दिव्य लीला और रहस्य को परमज्ञा[नी] भक्त के पास सुनना चाहिए तथा दीर्घकाल त[क] सत्संग के द्वारा मन पवित्र कर भगवद्‌कथा [को] ग्राह्य करने की क्षमता अर्जन करनी चाहि[ए।] इसलीए भगवान् शंकर ने गरुड़जी से कहा,

मिलेहु गरुड़ मारग महँ मोही।
कवन भाँति समुझावौं तोही।।
नित हरिकथा होत जहँ भाई।
पठवउँ तहाँ सुनहु तुम्ह जाई।।

जाइहि सुनत सकल संदेहा।
रामचरण होइहि अति नेहा।।

–'हे गरुड़। तुम तो मुझे रास्ते में मिले हो। यहाँ तुम्हारा संशय कैसे भंग करूँ–रास्ता चलते तुम्हें कैसे समझाऊँ? हे भाई! जहाँ प्रतिदिन हरि कथा होती है, तुमको मैं वहाँ भेजता हूँ, तुम जाकर उसे सुनो। उसे सुनते ही तुम्हारा सब सन्देह दूर हो जायगा। और तुम्हें श्रीरामजी के चरणों में अत्यन्त प्रेम होगा।

मन में प्रश्न जगता है कि भगवान् शंकर तो तीनों लोकों के गुरु हैं, वे स्वयं सच्चिदानन्द रूप हैं, अजन्मा और अमर हैं तो उन्होंने गरुड़ जी का गुरु होना स्वीकार क्यों नहीं किया। वे तो सर्वदा माँ पार्वती को श्रीराम की गाथा सुनाते रहते हैं। अतः वे कह सकते थे, "गरुड़! रास्ते में मैं तुम्हें कैसे समझाऊँ? चलो कैलाश पर मेरे पास कुछ दिन रहो और भगवान् राम की तत्व से गाथा सुनो, तुम्हारे सब संशय दूर हो जायेंगे। किन्तु ऐसा न करके उन्होंने गरुड़जी को काकभुसुंडिजी के पास भेज दिया।

उत्तर दिसि सुंदर गिरि नीला।
तहँ रह काकभुसुंडि सुसीला।।
रामभगति पथ परम प्रबीना।
ग्यानी गुन गृह बहु कालीना।।
राम कथा सो कहइ निरंतर।
सादर सुनहिं बिबिध बिहंगवार।।

भगवान् शंकर ने ऐसा क्यों किया? यह प्रश्न उठता है। काकभुसुंडिजी में ऐसा कौन-सा गुण था जो भगवान् शंकर को गरुड़जी को उनके पास भेजना पड़ा? भगवान् के परमभक्त मुनिश्रेष्ठ नारद, सृष्टिकर्ता ब्रह्माजी और भगवान् शंकर जो शंका निवारण न कर पाये उसे काकभुसुडि कैसे दूर करेंगे?

इन प्रश्नों का उत्तर भगवान शंकर स्वयं माँ पार्वतीजी को बताते हैं :

कछु तेहि ते पुनि मैं नहिं राखा।
समुझइ खग खग ही कै भाषा

–फिर कुछ इस कारण से भी मैंने उसको अपने पास नहीं रखा कि पक्षी ही पक्षी की भाषा समझ सकते हैं। पक्षियों के आचार-विचार व्यवहार पक्षी ही जान सकता है। अतः भगवान् शंकर ने उन्हें रामभक्ति के मार्ग में परम प्रवीन, ज्ञानी, गुणों के धाम, प्राचीन और निरंतर भगवान् के गुणगान करने वाले पक्षी देहधारी काकभुसुंडि जी के पास भेजा था, जहाँ पहले से ही बहुत भक्त पक्षीवर निरंतर सत्संग करते हैं।

भगवान् शंकर का उपदेश ग्रहण कर गरुड़जी बड़े हर्ष के साथ शिवजी को प्रणाम कर काकभुसुंडिजी के पास चले गये और वहाँ उनकी कृपा से गरुड़जी के संदेह दूर हुए।

जिस प्रकार पक्षिराज गरुड़जी का मोह दूर करने के लिए नारद, ब्रह्मा तथा स्वयं महादेव के स्थान पर काकभुसुंडिजी की आवश्यकता पड़ी, उसी प्रकार मनुष्य देहधारी जीवों के मोह दूर कर उन्हें भवसागर से पार करने हेतु मनुष्य देहधारी गुरु की ही आवश्यकता पड़ती है। नरदेहधारी गुरु ही मनुष्य को सत्संग करा सकते हैं, उसी की भाषा में राम-रहस्य समझा सकते हैं। भगवान् सच्चिदानन्द, निर्गुण निराकार हैं किन्तु जीवों पर दया करके ऐसा सगुण साकार रूप बनाते है जिसके द्वारा वे जीवों को सत्संग करा सकें, उसकी ही भाषा में बोल सकें किन्तु सब मानव गुरुओं के भीतर वे एक सच्चिदानन्द परमात्मा ही वास्तविक गुरु हैं।

देश-भक्ति के आँसू

-स्वामी निखिलेश्वरानन्द
सचिव, रामकृष्ण मिशन, पोरबन्दर

मध्य रात्रि का समय। चारो ओर नीरव स्तब्ध वातावरण। बेलुड़ मठ के पुराने भवन के दुमंजिले पर स्थित अपने छोटें कमरे में निद्रित हैं स्वामी विज्ञानानन्दजी महाराज। अचानक उनकी निद्रा टूट गयी। नीरव शान्ति को चीरती हुई सिसकने की आवाज कहाँ से आ रही है, यह देखने के लिए चौंककर वह उठ खड़े हुए। धीरे-धीरे आवाज की दिशा मे अग्रसर हुए। पास ही स्वामी विवेकाननदजी का कमरा। लगा आवाज वहीं से आ रही है। दरवाजे को धक्का दिया तो खुल गया। कमरे का दृश्य देखकर वे स्तम्भित रह गये। देखा तो स्वामीजी अपने बिछौने पर नहीं हैं, फर्श पर लोट रहे हैं तथा सिसक-सिसक कर रो रहे हें। फर्श तथा कपड़े सभी आँसुओं से भींगे हुए हैं। उनके प्रवेश करते ही स्वामीजी ने पूछा-"कौन"? स्वामी विज्ञानानन्दजी ने उत्तर दिया- ''स्वामीजी, मैं हूँ पेसन।'' स्वामीजी ने पूछा-"इतनी रात में यहां क्यों आये हो?" स्वामी विज्ञानानन्दजी ने उत्तर दिया-"स्वामीजी, मैं सोया हुआ था, अचानक रोने की आवाज सुनकर आया। स्वामीजी आप रो क्यों रहे हैं?" स्वामीजी ने कहा-''देखो पेसन, देश की दुर्दशा, गरीवी तथा पीड़ा की वात सोचकर मैं सो नहीं पा रहा हूँ, वेदना से मन छटपटा रहा है। इसलिए ठाकुर(श्रीरामकृष्ण देव) से रो-रोकर प्रार्थना कर रहा हूँ-लोगों का दुःख दूर करने के लिए, देश की अवस्था को सुधारने के लिए, किन्तु क्या करूँ, वे मेरी प्रार्थना सुन नहीं रहे हैं।'' स्वामी विज्ञानानन्दजी ने ढ़ाढ़स बँधाते हुए कहा-''वे आपकी प्रार्थना अवश्य सुनेंगे। वे आपको कितना चाहते थे! क्या कभी भी उन्होंने आपकी इच्छा को टुकराया है? चलिए स्वामीजी अव सो जाइए, रात अधिक हो चुकी है।'' ''नहीं, पेसन नहीं, तुम नहीं जानते कितने दिनों से मैं उनको पुकार रहा हूँ, कितनी रातें रो-रोकर वितायी हैं, किन्तु फिर भी वे नहीं सुन रहे हैं। देश की अवस्था बिगड़ती ही जा रही है। आह, उनका हृदय पाषाण का हो गया है।'' यह कहते हुए स्वामीजी फिर से फूट-फूट कर रोने लगे।

वास्तव में कितनी रातें स्वामीजी ने इसी प्रकार मातृभूमि के लिए रो-रोकर बितायी थी, कितने अश्रु देश वासियों के लिए बहाये थे, कौन जानता है? उस रात की बात भर हम जानते हैं, जिस रात को स्वामीजी अमेरिका की शिकागो महासभा में भाषण देकर सारे संसार में प्रसिध्दि पाने के बाद, एक धनी परिवार के भवन में मुलायम गद्दी वाले पलंग पर सोने के बदले फर्श पर लोटते हुए रो-रोकर प्रार्थना कर रहे थे-"माँ, यहाँ ये लोग इतने ऐशो-आराम में जी रहे हैं और मेरे देशवासियों को दो जून खाना भी नहीं जुट रहा है, मेरे देशवासियों की अवस्था कब सुधरेगी, माँ?"

मातृभूमि के प्रति इसी आवेग में उन्होंने कहा था-"जब तक मेरे देश में एक कुत्ता भी भूखा है,तब तक मेरा सारा धर्म उसका पेट भरने में निहित है।" इसी आवेग में अश्रुपूर्ण नेत्रों से अपने गुरुभाइयों से इन्होंने कहा था-"मेरे

देशवासी भाइयों को, जो अभी तमोगण में डूबे हुए हैं, आत्मनिर्भरशील बनाने तथा इन्हें कर्मयोग के आदर्श पर परिचालित कर ऊपर उठाने के लिए मैं सहस्र नरकों में जाने को तैयार हूँ।" आबू रोड स्टेशन पर अपने गुरुभाई स्वामी तुरीयानन्दजी से मुलाकात होने पर उन्होंने कहा था-"हरि भाई, मैं तुम्हारा धर्म आदि तनिक भी नहीं समझ सका। अवश्य मेरा हृदय अब विशाल हो गया है। मैं अब लोगों का दुःख दर्द हृदय से अनुभव करने लगा हूँ। विश्वास करो, मैं सचमुच व्यथा का अनुभव कर रहा हूँ।" इसके बाद के शब्द इनके अवरुद्ध कण्ठ से निकल नहीं पाये। नेत्रों से अश्रुधारा बहने लगी।

परिव्राजक के रूप में भ्रमण करते समय स्वामीजी ने देशवासियों की गरीबी को स्वयं अपनी आँखों से देखा था, हृदय से अनुभव किया था और इसी के उद्वेग में उन्होंने अमेरिका से एक पत्र में लिखा था ''मैं दार्शनिक नहीं हूँ, मैं तत्त्वज्ञानी नहीं हूँ, मैं सन्त भी नहीं हूँ, मैं गरीब हूँ, गरीबों से प्रेम करता हूँ।

अपनी बहन की आत्महत्या का समाचार सुनकर स्वामीजी ने भारतीय नारियों की दुर्दशा तथा सामाजिक समस्याओं को सोचते-सोचते आँसू बहाये थे। इसी आवेग में उन्होंने घोषणा की थी-''जबतक देश में नारियों की स्थिति नहीं सुधरती, तब तक देश की उन्नति असम्भव है।' अपनी गर्भधारिणी माँ के समान हजारों विधवा नारियों की असहाय अवस्था का चिन्तन करते हुए उन्होंने भावावेश में कहा था-'उस धर्म में मैं विश्वास नहीं करता जो भूखे को दो मुट्ठी अन्न न दे सके या विधवा के आँसू न पोंछ सके।'

एक दिन महाकवि गिरीशचन्द्र घोष जब वर्तालाप के प्रसंग में देश की दुर्दशा, भुखमरी, समाज की हीन अवस्था आदि का सजीव चित्रण कर रहे थे तब स्वामीजी दुःख से इतने कातर हो गये कि अपने आँसुओं को छिपाने के लिए वहाँ से उठकर चले गये। कुछ देर बाद लौट कर उन्होंने स्वामी सदानन्दजी को राहत कार्य आरंभ करने का आदेश दिया और श्री गिरीशचन्द्र घोष से कहा-''देखो, जी०सी०, मुझे लगता है कि लोगों का दुःख दूर करने के लिए मुझे हजारों जन्म लेने पड़ें तो उसके लिए भी मैं तैयार हूँ। यदि इससे किसी एक व्यक्ति का तनिक भी दुःख दूर हो सके तो भी मैं यह अवश्य करूँगा।''

सन् १८९८ ई० में जब कलकत्ते में प्लेग ने महामारी का रूप धारण कर लिया तब स्वामीजी देशवासियों के दुःख से इतने अभिभूत हो गये कि राहत कार्य के लिए पर्याप्त धन उपलब्ध न होने पर वे बेलुड़ मठ की उस ज़मीन तक को बेचने के लिए उतारू हो गये जिसको प्राप्त करने के लिए उन्होंने जीवन भर परिश्रम किया था। बाद में अवश्य श्रीमाँ सारदा देवी के आदेश पर वे इस कार्य से विरत हुए थे और कुछ धन भी राहत कार्य के लिए एकत्र हो गया था।

अमेरिका से प्रत्यावर्तन के बाद स्वामीजी जब कलकत्ते में 'बलराम भवन' में निवास कर रहे थे तब ही एक घटना का वर्णन करते हुए स्वामी तुरीयानन्दजी ने कहा था.....''स्वामीजी से भेंट करने के लिए मैं उस दिन 'बलराम भवन' गया था। जाकर देखा, स्वामीजी इतनी गंभीर चिन्ता में मग्न होकर टहल रहे हैं कि मेरे आगमन की बात जान नहीं पाये। कुछ देर बाद वे मीराबाई का एक प्रसिद्ध भजन गुनगुनाने

लगे तथा उनके नेत्रों से आश्रुधारा बहने लगी। दोनों हाथों से अचनाक अपना चेहरा ढककर रेलिंग पर टेककर वेदनापूर्ण स्वर में गाने लगे-"दरद न जाने कोई।" उनका दर्द भरा सुर और नैराश्य का भाव मानों चारों ओर फैल गया था और सब कुछ विषाद से परिपूर्ण हो गया था। 'घायल की गति घायल जाने और ना जाने कोई"-इस दर्द भरे गीत से मानो भूमण्डल स्पन्दित हो रहा था। उनका स्वर मेरे हृदय में तीर के समान चुभ रहा था और मेरे भी नयन अश्रुपूर्ण हो गये थे। स्वामीजी के दुःख का कारण न जानने से मैं बेचैनी महसूस कर रहा था। कुछ देर बाद मेरी समझ में आया-लोगों के प्रति सहानुभूति ही उनकी इस व्यथा का कारण थी। इस घटना को सुनकर स्वामी तुरीयानन्दजी ने कहा था-"क्या तुम सोचते हो, स्वामीजी के अश्रु व्यर्थ जायेंगे? उनका प्रत्येक अश्रु रक्त की बूँद बनेगा जिससे हजारों व्यक्ति जन्म लेंगे जो देश के लिए अपना बलिदान दे देंगे।" वास्तव में कई युवक युवितियों ने देश की आजादी के लिए स्वामीजी से प्रेरणा पाकर अपनी जान की बाजी लगा दी। राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बावन वर्ष बाद भी हमारा देश आर्थिक तथा सामाजिक क्षेत्र में पिछड़ा हुआ है, राष्ट्रीय एकता के अभाव में टुकड़ों में विभक्त होता जा रहा है, संकट के घने बादल अब भी देश पर मंडरा रहे हैं। मातृभूमि की इस दयनीय अवस्था को देखकर स्वामीजी की आत्मा आज भी अवश्य अश्रुपात कर रही है।

आज भी स्वामीजी के ये आँसू युवक-युवतियों को मातृ भूमि के लिए बलिदान देने का आह्वान् कर रहे हैं।

बोध-कथा

भगवान बुद्ध भ्रमण कर रहे थे। मार्ग में उन्हें प्यास लगी। आनन्द समीपस्थ झरने से पानी लाने गये। उन्होंने देखा कि कुछ समय पूर्व ही वहाँ से बैलगाड़ियाँ गुजरी हैं तथा बैलों ने सारा जल गन्दा कर दिया है। वे लौट आये और बुद्धदेव से बोले, "यहाँ का जल गन्दा है। मार्ग में हमें जो नदी मिली थी, मैं वहाँ का जल लाता हूँ।" किन्तु बुद्धदेव बोले, "झरने से ही जल ले आओ।" आनन्द जब झरने के पास गये, जो उन्होंने देखा कि जल अभी भी साफ नहीं हुआ है। वे वापस आ गये और बुद्धदेव ने उन्हें पुनः झरने का ही जल लाने भेजा, किन्तु गन्दा जल देख आनन्द की इच्छा न हुई कि उसे अपने स्वामी को पिलाया जाय। वे लौट आये और बुद्धदेव ने पुनः उन्हें वापस भेजा। ऐसा तीन बार हुआ। चौथी बार जब आनन्द वहाँ गये, तो देखा कि मिट्टी और सड़े-गले पत्ते नीचे बैठ चुके हैं तथा पानी आईने की भाँति चमक रहा है। इस बार वे जल लेकर लौटे। तब बुद्धदेव बोले, "आनन्द! हमारे जीवनरूपी जल को भी कुविचाररूपी बैल प्रतिदिन गन्दा करते रहते हैं और तब हम जीवन से पलायन करते हैं। किन्तु हमें भागना नहीं चाहिए, बल्कि मनरूपी झरने के शान्त होने की प्रतीक्षा करनी चाहिए। इसके लिए धीरज की आवश्यकता है। तभी सब कुछ स्वच्छ दिखाई देगा, ठीक इस झरने की तरह।"

विशिष्टद्वैती श्रीरामानुजाचार्य

प्रो० श्रीराजा भाऊ लिमये, पुणे

पार्श्वभूमि-

दक्षिण भारत में नौवीं शताब्दी से विद्वान वैष्णव सन्तों की परम्परा का निर्माण हुआ था। ये धर्मपीठाधीश थे और उन्होंने संस्कृत में विद्वत्तापूर्ण ग्रंथों की रचना की। वे 'आचार्य' की उपाधि से पहचाने जाते हैं। प्रचुर मात्रा में पद्य रचना करके इन वैष्णव आचार्यों के पूर्व 'अलवार' संतों को लोकमान्यता प्राप्त हुई थी। उन भक्ति सिक्त पद्यों से स्फूर्ति लेकर रंगनाथाचार्य ने (ई० ८५०-६००) जो पहले आचार्य थे, संस्कृत और तमिल भाषा में प्रचुर मात्रा में ग्रंथ रचना की। उनके पुत्र-शायद पोते-यमुनाचार्यजी भी (ई० ६२०-१०४०) बड़े विद्वान थे और उन्होंने अनेक शास्त्रार्थ सभाओं में विजय प्राप्त की थी। प्रवचन और पाण्डितत्यपूर्ण ग्रंथ रचनाओं के द्वारा उन्होंने वैष्णवमत का प्रचुर मात्रा में प्रचार किया। उनका निवास अरिंगम में था। वे पीटाधीश थेऔर उनके कांचीपूर्ण, महापूर्ण, गोर्ष्टीपूर्ण,मालाधार और बररंग नाम के पांच विद्वान शिष्य थे। उन्हीं शिष्यों में उनका सारा ज्ञान विखरा हुआ था। वाद में श्रीरामानुजाचार्यजी ने उन सव के पास अध्ययन करके, उस विद्या को एकत्रित और संकलित करके उसको सुचारु रूप में गढ़ा तथा सुव्यवस्थित रूप दिया.। इसी पीट के वे वाद में पीटाधीश बने।

चरित्र- जन्म, बचपन और अध्ययन-

रामानुज की माता का नाम भूदेवी और पिता का नाम केशव पेरुमल था। मद्रास के पास श्रीपेरांबुर गाँव के एक मंदिर में दोनों रहते थे। यहाँ ही १०१७ ई० में उनका जन्म हुआ था। बचपन में ही पिता की छत्र छाया उठ गयी । वे बड़े प्रज्ञावान थे। उपनयन के उपरांत विद्याभ्यास का प्रारम्भ हुआ उन्होंने वेदवेदांगों का अध्ययन पूर्ण किया। सोलह वर्ष की आयु में ही उनका विवाह हो गया। पत्नी का नाम तजम्मा था। पितृ वियोग होने पर वे माता और पत्नी के साथ कांची मे स्थार्यी रूप से रहने लगे। लेकिन पत्नी के साथ उनकी कुछ बनी नहीं। अतः उन्होंने उसे मायके भेज दिया और श्री वरदराज की उपस्थिति में संन्यास ग्रहण किया। उस समय यादव प्रकाश नाम के एक विद्वान सुप्रसिद्ध थे। रामानुज उनके यहाँ अध्ययन के लिए उपस्थित हुए। कुछ दिनों बाद गुरु शिष्य में श्रुति वचनों के अर्थ संबंध मूलभूत और वारम्बार मतभेद होने लगे। परिणामस्वरूप गुरु ने शिष्य को ज्ञान देना बंद कर दिया। उनके मन में इस प्रतिभासम्पन्न शिष्य के संबंध में कुछ आशंकाएँ उत्पन्न हुई। एक बार यादवप्रकाश अपने शिष्यों के साथ वाराणसी की यात्रा के लिए चल पड़े। उस समय उनके शिष्यों ने रामानुज को विष देकर अपने रास्ते हटाने का निश्चय किया। लेकिन उनके चचेरे भाई ने उन्हें इस योजना के संबंध में सतर्क किया और वे उसी रात बिना किसी को बताये चुपके से वापस लौटे। लौटते समय घने जंगल में जब वे अकेले थे तब अचानक उन्होंने एक भील दम्पति को देखा। उन्होंने रामानुज की पूछताछ की और उन्हें सुरक्षित स्थान पर पहुँचा दिया। सुबह उठकर देखा तो वे कांची पहुँच गये थे। एक ही रात में इतना लम्बा फासला कैसे पार हुआ उन्हें यह आश्चर्य हुआ और उन्होंने उस दम्पति को ढूंढ़ा लेकिन वे कहीं

नहीं मिले। तब उन्हें यह विश्वास हुआ कि हो न हो उनके इष्टदेव श्रीवरदराज और श्रीलक्ष्मी ने ही भील के रुप में उनकी रक्षा की, ऐसी एक कथा और प्रचलित है। यात्रा से लौटने पर यादव प्रकाशजी ने अध्यापन पुनः शुरू किया। आगे चलकर अपने शिष्य की श्रेष्ठता का यादव प्रकाशजी को अनुभव हुआ और वे रामानुज के शिष्य बन गये। कांची में उन्होंने अपने को श्रीवरदराज के चरणों में सौंप दिया।

रामानुज की विद्वत्ता और उनके चारित्र्य की बातें यामुनाचार्यजी ने सुनी और उन्होंने रामानुज को अपना उत्तराधिकारी बनाने का संकल्प किया। उन्हें बुला लाने के लिए यामुनाचार्य ने अपने पुत्र को भेजा। लेकिन उनके पहुँचने के पूर्व ही यामुनाचार्यजी का निधन हो गया। रामानुज जब यामुनाचार्यजी के दर्शन करने गये तब उन्होंने देखा कि तीन उँगलियाँ बंद हैं। शिष्यों ने बताया कि उनकी तीन इच्छाएँ पूरी नहीं हुई। एक व्यास आचार्य और अल्वार संतों के बीच श्रद्धा-निर्माण करना, दूसरा वैष्णव संप्रदाय का प्रसार करना और तीसरा ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखना। कहा जाता है कि रामानुज ने उसी समय, उसी स्थान पर उनकी इन तीन अपूर्ण इच्छाओं को पूरी करने की प्रतिज्ञा की और आश्चर्य की बात यह कि यामुनाचार्यजी की वे तीनों उँगलियाँ सीधी हो गयीं। रामानुजाचार्यजी श्रीरंगदेवस्थान और मठ के मठाधिपति बने। इतना होते भी उनकी शिक्षा समाप्त नहीं हुई थी। यामुनाचार्यजी के शिष्यों से शिक्षा प्राप्त कर ही रहे थे। उन्होंने सर्वप्रथम कांचीपूर्णजी से अनेक प्रश्नों के उत्तर प्राप्त किये और आशंकाओं का समाधान करा लिया और उन उत्तरों को उन्होंने साक्षत् भगवान के उत्तरों के स्वरूप में ग्रहण किया। उन उत्तरों को ही विशिष्टद्वैत के मूलतत्त्व के रूप में माना जाता है। उसके बाद महापूर्ण या पोरेयनंबी के घर छः महीने रहे। उनसे वेदान्त सूत्र और तीन हजार गाथा (प्रबंध) का अभ्यास किया और गुरुसेवा करके तत्त्वज्ञान के गूढ़ अर्थ को आत्मसात् किया। उसके बाद गोर्ष्ठीपूर्णाजी से उन्होंने 'ॐ नमो नारायणाय' यह अष्टाक्षरी मंत्र ग्रहण किया। 'इस मंत्र के उच्चारण से तुरन्त मुक्ति प्राप्त होगी। अतः यह मंत्र किसी को मत देना।' ऐसा गुरु के कहते ही रामानुज गोपुर पर जा खड़े हुए और लोगों को बुला-बुलाकर उस मंत्र का जोर-जोर से उच्चारण करने लगे। सैकड़ों लोगों ने वह मंत्र सुना। गुरु ने क्रोधित होकर कहा-मेरी अवज्ञा करने के कारण तुम्हें नरक में जाना पड़ेगा। रामानुज ने कहा कि आपकी अवज्ञा के परिणमस्वरूप यदि इतने लोगों का कल्याण होता होगा तो मैं हँसते-हँसते, आनन्द से नरक में जाने को तैयार हूँ। गुरु प्रसन्न हुए और आशीर्वाद दिया आज से यह विशिष्टाद्वैव दर्शन 'रामानुज दर्शन' के नाम से पहचाना जाएगा। इस आख्यायिका में कुछ भी असंभवनीय नहीं दिखाई देता।

तीर्थयात्रा –

सुविधा के लिए हम काल क्रमानुसार देखने की बजाय विषय क्रमानुसार देखेंगे। रामानुजाचार्यजी ने पूरे भारत का भ्रमण किया था। प्रतिज्ञा पूर्ति के लिए भाष्य लिखना अनिवार्य था। और इसीलिए आचार्य शंकरजी ने जिसका संदर्भ दिया था वह बौद्धायन भाष्य पढ़ना जरूरी था। वह भाष्य केवल कश्मीर में प्राप्त होने वाला था। अतः रामानुजाचार्य अपने भतीजे दाशरार्थ और कुरेश-इन शिष्यों के साथ रामेश्वर से कश्मीर गये। वहाँ उन्हें बौद्धायन भाष्य केवल एक ही बार श्रवण करने का अवसर

मिला। लेकिन कुरेशजी ने उसे कण्ठगत किया और बादं में उसे शब्दबद्ध किया-ऐसा कहते हैं। श्रीरंगम् लौटने पर रामानुजाचार्यजी ने ब्रह्मसूत्र का प्रसिद्ध श्रीभाष्य लिखकर पूर्ण किया। सर्वप्रथम उन्होंने अलवार संतों के निवास स्थानों की यात्रा की। तमिलनाडु, चोल, पालय, रामेश्वर, तिरूपति आदि की दक्षिण की ओर तथा द्वारिकापुरी, कश्मीर, ब्रद्रीनारायण, वाराणसी आदि उत्तर की ओर की यात्राएँ भी कीं। कश्मीर में सरस्वती पीठ ने उनका सम्मान करते हुए हयग्रीव की मूर्ति भेंट के रूप में प्रदान की। उसी मूर्त्ति की मैसूर मठ में आज भी पूजा की जाती है। श्रीरंगमुन के राजा कट्टर शैवपंथी थे और उस राजा ने रामनुजाचार्य और उनके शिष्यों के वैष्णव होने के कारण आँखें निकालकर उन्हें अंधा बना दिया। अतः उन्होंने होयसल राजा के तंजौर राज्य में आश्रय लिया। रामानुज के कारण होयसल के राजा की कन्या की पिशाचपीड़ा दूर हो गयी अतः उस राजा ने, जो जैन था, वैष्णव धर्म को स्वीकार किया। ये ही विष्णु-वर्धन नामसे पहचाने जाने लगे। आचार्य रामानुज के कहने के अनुसार राजा विष्णुवर्धन ने वेलूर, तोंउनूर, गदग आदि पाँच स्थानों पर विष्णु मंदिर बनाये। वे मंदिर आज भी कन्नड़ संस्कृति और शिल्प के अप्रतिम नमूने समझे जाते हैं। रामानुजाचार्यजी ने पूजा विधि में संस्कृत मंत्रों के साथ-साथ तामिल वेद-प्रवंधों का गायन करने की नयी प्रथा का प्रारंभ किया। उन्होंने आलवारों की मूर्त्तियों की भी प्रतिष्टापना की। तिरूपति की मूर्त्ति जो अनेक वर्षों तक समुद्र में पड़ी हुई थी उसे वाहर निकालकर उसकी पुनः प्राण-प्रतिष्ठा की। कर्नाटक में उन्होंने बोस सालतक निवास किया। आचार्य रामानुजने संस्कृत में पंडित्यपूर्ण और भक्तिपूर्ण अनेक ग्रंथों की रचना की। उनमें 'गीताभाष्य', ब्रह्मसूत्र का 'श्रीभाष्य' वेदांत संग्रह वेदांत सार आदि सुप्रसिद्ध हैं और महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। वैष्णवपंथ का पूरेभारतवर्ष में प्रचार और प्रसार करके अपने चौहत्तर शिष्यों पर मठों की जिम्मेदारी सौंप दी। एक सो वीस वर्ष की आयु में उनका निर्वाण श्रीरंगम् में माघ शुक्ल दशमी, शक दस सौ उनसठ में-ग्यारह सौ सैतीस ईसवी में हुआ। उन्होंने अपना उत्तरदाधिकारी पद कुरेश पुत्र पराशर भट्ट्ट को दिया।

कार्य–

रामानुजाचार्यजी का शिष्य परिवार बहुत बड़ा था। उन्होंने अनेक स्थानों पर मठ स्थापित किये और उन्हें धर्म जागृति का केन्द्र बनाया। विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय के वे प्रभावी प्रवर्तक थे। वे दक्षिण भारत के वैष्णव पंथ के प्रमुख आचार्य थे। उन्होंने उपनिषद्, गीता और भागवत के विशुद्ध भक्तिमार्ग का प्रचार और प्रसार केवल दक्षिण में ही नहीं, अपितु उत्तर भारत में भी प्रचुर मात्रा में किया। रामानन्द और चैतन्य महाप्रभु ये दो महान् वैष्णव संत उन्हीं की परंपरा का अनुशीलन करनेवाले थे। रामानुजाचार्य जी ने जैनधर्म का प्रभुत्व दूर हटाकर हिन्दू धर्म की और भक्ति मार्ग की महत्ता की जनमानस में पुनर्स्थापना की। भक्तिमार्ग की पुनर्स्थापना के लिए उन्हें श्रीशंकराचार्य के अनुयायियों से भी शास्त्रार्थ करना पड़ा और उन्हें पराजित करना पड़ा। यज्ञमूर्त्ति नाम के एक अद्वैत मत के संन्यासी भारत-भ्रमण करते हुए और जयपत्र प्राप्त करते हुए आये और उन्होंने रामानुजाचार्यजी को शास्त्रार्थ के लिए आमंत्रित किया। उन्होंने आमंत्रण स्वीकार करके श्रीरंगम् के मंदिर में ही उनके साथ अट्ठाईस दिनों तक शास्त्रार्थ किया और उन्हें पराजित किया। उक्त संन्यासी

वैष्णव संप्रदाय की दीक्षा ली। रामानुजाचार्यजी का पूरा जीवन अध्ययन, अध्यापन, तीर्थयात्रा, ग्रंथलेखन, शिष्यों को एकत्र करना आदि में ही व्यतीत हुआ। तिरुपति, मेंदाकोट आदि प्राचीन मंदिरों का उन्होंने जीर्णोद्धार किया। इतना ही नहीं, उन्होंने नये विष्णु मंदिर का निर्माण करके पूजा-विधि की व्यवस्था की तथा संस्कृत मंत्रों के साथ तमिल-प्रबंधों के गायन का प्रारंभ करके देशीभाषाओं को प्रोत्साहन दिया। वस्तुतः वे बहुत बड़े समाज सुधारक थे। सभी स्तर के और सब जातियों के लोगों को उन्होंने भक्तिमार्ग दिखाया। मंदिरों के निर्माण में अस्पृश्यों ने उन्की वड़ी सहायता की। वे उन सब अस्पृश्यों को तिरुकुलत्तर–श्रेष्ठकुल–में उत्पन्न कहते थे और साल में पूरे तीन दिनों तक मंदिर केवल उनके लिए ही खुला रखा जाता था। उन्होंने समाज की आखिरी तह तक धर्म का संदेश पहुँचाने का प्रयत्न किया। उनके पूर्वके अलवार संतों की मूर्त्तियों की स्थापना, पूजन और वाङ्मय को अध्ययन का उन्होंने सूत्रपात किया।

विशिष्टाद्वैत तत्त्वज्ञान–

दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी में तामिलनाडु में वैष्णव भक्ति चरमसीमा तक पहुँच गयी थी। वैष्णव संतों ने, जो संस्कृत के पंडित और विद्वान आचार्य थे, अलवार संतों की भक्ति का कर्म और वेदोक्त ज्ञान का समन्वय किया। वेदान्त और तामील प्रबंधों का समन्वय करने के कारण। वे 'उभय वेदान्ती' कहे जाने लगे। यहीं वैष्णव मत अथवा 'श्रीवैष्णव' या 'विशिष्टाद्वैत' माना जाता है। उसके बाद वेदान्ताचार्य, लोकाचार्य और श्रीनिवास आदि लोगों ने वैष्णव सम्प्रदाय के अत्यधिक मात्रा में ग्रंथ लिखे। इस दर्शन की यह विशेषता हैं कि ब्रह्मवादी दर्शन और ईश्वरवादी पुरुष इनका यथा योग्य समन्वय करने का प्रयत्न किया गया। परिणामस्वरूप दार्शनिकता और धार्मिकता की दृष्टि से वैष्णव पंथ अधिक नियमबद्ध हुआ और विद्वान तथा सामान्य लोग, समाज के इन दोनों स्तरों में वह लोकप्रिय बना। 'द्वैतविशिष्ट अद्वैतम्' द्वैत होते हुऐ भी अद्वैत यह नाम ही उनके तत्त्वज्ञान का बोधक है। दूसरा महत्वपूर्ण तत्व है कारणरूपी परमात्मा की कार्यरूपी परमात्मा से एकरूपता। अपना ब्रह्मवाद उन्होंने उपनिषद् से लिया है और ईश्वरवाद भागवत पुराण से लिया हैं। प्रभु जो अत्यंत करूणामय हैं उनपर दृढ़ श्रद्धा रखते हुए संपूर्ण रूप से शरणागत होने से भक्तों का कल्याण होता हैं। इन दो मार्गों का समन्वय करने का प्रयत्न प्राचीन काल से हो रहा था इसका प्रमाण हमें वेदवाङ्मय और गीता में भी प्राप्त होता है। शंकराचार्य ने जग को, संसार को माया कल्पित और मिथ्या समझा और उन्होंने संसार के अस्तित्व को ही अस्वीकार किया। जो संसार दिखाई देता है, जिसका हम अनुभव करते हैं उसके अस्तित्व का इन्कार करना, इस धारणा को स्वीकार करना जन सामान्य के लिए असंभव है। इसकी प्रतिक्रिया होना यह अटल बात थी। अतः जगत्मिथ्या इस तत्व को अमान्य करना और वेद तथा गीता तत्वज्ञान से उसका संबंध प्रतिपादित करना आवश्यक था। यही महत्वपूर्ण कार्य विशिष्ट द्वैत संप्रदाय ने किया।

इस संप्रदाय के महत्वपूर्ण दार्शनिक सिद्धांत इस प्रकार माने जाते हैं। ब्रह्म का स्वरूप कभी भी निर्गुण नहीं होता, वह हमेशा सगुण ही होता है। जीव और जगत का नाश जरूर होता है लेकिन उनका ब्रह्म में सूक्ष्म रूप से अस्तित्व रहता है। इन्हें ही कारण-ब्रह्म कहा जाता है। उत्पत्ति के समय यही ब्रह्म जीव और जगत् के

रूप में प्रकट होता है। यही 'कार्यब्रह्म' कहलाता है। इसके मतानुसार चित्, अचित् और ईश्वर इन तीन तत्वों को माना जाता है। चित् माने जीव, भोक्ता, अचित् माने प्रकृति, जो जड़ है, भोग्य है, ईश्वर इन दोनों के अंतर में विराजमान हैं, वह इन दोनों से युक्त होता है। ब्रह्म यह ईश्वर का ही दूसरा नाम है। जीव और जगत दोनों स्वतंत्र होते हुए भी हमेशा ईश्वराधीन होते हैं। अतः चित् और अचित् यह ईश्वर का शरीर माना जाय। ईश्वर की विशेषता यह है कि वह अतंत, ज्ञानरूप, आनंदमय है। वही उत्पत्ति, स्थिति और लयकर्त्ता है। यहाँ ही शांकर तत्वज्ञान के साथ मूलभूत मतभेद दिखाई देता है। शांकर मतानुसार जीव को ब्रह्म ही माना जाय, जगत का अस्तित्व तो है ही नहीं, एकमेव ब्रह्म को ही सत्तारूप माना जाता है। जीव और जगत को स्वतंत्रता नहीं है तथा वे नित्य तो हैं ही नहीं। रामानुजाचार्यजी के मतानुसार, शांकर मतानुसार जो ब्रह्म को केवल अद्वैत कहा गया है वह सत्य नहीं है तो चित् और अचित् इनका ब्रह्म के साथ विशिष्ट अद्वैत होता है इसीलिए उसे विशिष्टाद्वैत कहते हैं। जीव ब्रह्म से बिल्कुल अलग है। ब्रह्म जगत्कारण तथा जीवाधिपति है। ब्रह्म प्राज्ञ है तो जीव अज्ञ है। उनका एक दूसरे के साथ, अंशी-अंश, विशेष्य-विशेषण संबंध है। शांकर मतानुसार 'तत्वमसि' इस महावाक्य का अर्थ तत्-ब्रह्म, त्वं-जीव और असि-संबंध होना है। तो विशिष्टाद्वैत मतानुसार तत्-संबंध होना है तो विशिष्टाद्वैत मतानुसार तत्-सर्वज्ञ व जगत्कारण ईश्वर हैं तो त्वं-अचित्, विशिष्ट जीव जो शरीर धारण कर्त्ता ब्रह्म है। ईश्वर तेजोमय, परम कारुणिक है और जीवों का दुःख देखकर दुखी होता है, वह उन्हें कल्याण का मार्ग दिखाता है, अनुग्रह करता है। वह पाँच प्रकार के रूप धारण करता है। आत्मा के अचित् के सान्निध्य के कारण अविद्या, कर्म तथा वासना का निर्माण होता है और अचित् के नाश के साथ वे नष्ट होते हैं।

साधनामार्ग–

वेदान्त का अध्ययन शुष्क, किताबी और परानुभूति पर आधारित, केवल शाब्दिक पुनरावृति के स्वरूप में होता है। ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं, यह सत्य है लेकिन ज्ञान का अर्थ है ईश्वर का निरन्तर स्मरण। यथार्थ ज्ञान उपासना-भक्ति को ही कहा जाता है। ईश्वर प्राप्ति का भवित ही एक मात्र मार्ग है। 'प्रपत्ति' पूर्णरूपेण शरणागत यही भक्ति का साररूप है। भक्ति से ही प्रपत्ति से ही भगवान् प्रसन्न होते हैं और भक्त के सारे बंधन और क्लेश दूर हटा देते हैं। मुक्त आत्मा का ईश्वर के साथ कभी भी ऐक्य नहीं होता। सर्वज्ञाता, सिद्धकस्पादि गुण और रूप प्राप्त होने पर भी भक्त भगवान के साथ एक रूप नहीं होता वह भगवान-ईश्वर के सदृश बन जाता है। उत्पत्ति-स्थिति-लय की सामर्थ्य भक्त को कभी भी प्राप्त नहीं होती। आत्मा को जीवन मुक्ति नहीं प्राप्त होती केवल विदेह मुक्ति ही मिल सकती है। शांकर तत्वज्ञान के साथ विशिष्टाद्वैत तत्वज्ञान का यह महत्वपूर्ण मतभेद है। बैकुण्ठ में ईश्वर का दास बनना यही परममुक्ति है।

विशिष्टाद्वैत तत्वज्ञान साररूप में इस प्रकार कहा जाता है। इस सम्प्रदाय ने दक्षिण में सगुण भक्ति का प्रचार बड़े जोरों से किया और धर्म को सामान्य लोकों तक पहुँचाया। साथ-साथ धर्म की वैचारिक और आचरिक ज्योति को बनाए रखा। यही भक्ति पंथ का स्रोत आगे चलकर उत्तर की ओर गया और उत्तर भारत के लोगों के जीवन पर अपने तत्वज्ञान की महत्वपूर्ण छाप शाश्वत रूप से डाल रहा है।

ॐ तत् सत्

व्यक्तिगत जीवन से ऊपर उठ, वायुवत होओ

-स्वामी देवानन्द

{१९ मई २००० के 'द टाईम्स ऑफ इंडिया, पटना में प्रकाशित लेख का साभार अनुवाद—सं०}

अनुवादक—विमलकांत प्रसाद,
छपरा (बिहार)

हमें अपने जीवन के प्रत्येक क्षण यह याद रखना चाहिए कि हमारा मूल स्वरूप अखण्ड चैतन्य है। इसीलिए हमें भगवान से प्रेम करना चाहिए, क्योंकि वह प्रेम-स्वरूप हैं। इस मुद्दे पर हमारे विचार किसी स्थान अथवा कार्य विशेष के दायरे में संकीर्ण हैं।

हमारी व्यथा का कारण है, प्रेम में वैयक्तिक रूप से जुड़ जाना। इसलिए, हमें प्रेम का वैसा रूप सीखना चाहिए, जिसमें वायु-का-सा चरित्र हो। वायु सभी का स्पर्श करती है, पर किसी स्थान या व्यक्ति विशेष से अवरूद्ध तो नहीं हो जाती। इसे पकड़ा नहीं जा सकता, पर इसकी शीतल उपस्थिति की अनुभूति हो सकती है। ऐसे विचार से ही हम सुख को प्रभु से जोड़ सकते हैं। अगर मैं खुद ही प्रेम-स्वरूप हो जाऊँ, तो सभी मुझ से प्रेम करेंगे। उस स्थिति में मेरा मन बालक के मन के समान होगा। सोने की सिल्ली और मिट्टी का ढेला दोनों समान प्रतीत होंगे। ऐसे मौके पर हम अमरता के स्पर्श का अनुभव करते हैं। इस मानसिक अवस्था को केवल वही प्राप्त कर सकता है, जो उच्च-विचार युक्त है। वह मंदिर एवं कचड़े (Temple and Trash) तथा लिंगों में अन्तर नहीं देखता।

श्रीरामकृष्ण ने वैसी अवस्था प्राप्त की थी। उनकी दृष्टि में सभी एक थे, क्योंकि वे सब के साथ सदा एकमेक हो गये थे। सचमुच वही निर्विकारी एकत्व, सरलता एवं स्वाभाविकता है। यह इतनी सरल स्थिति है कि हम इसकी कल्पना ही नहीं कर सकते, क्योंकि हम विकृत हो गये हैं। मानसिक शांति की इस पूर्ण अनुपस्थिति में हम 'सत्यान्वेषण कर ही नहीं सकते। यह बोध ज्ञान से नहीं आता। भला माता से वार्तालाप करने की सहजता पुस्तकों में लिखित है क्या?

हमने रामकृष्ण एवं चैतन्य महाप्रभु के समान महापुरुषों के वचनों के विषय में केवल सुना है, उन्हें जीवन में उतारा तो नहीं। अगर उतार लिया होता, तो हमारे समाज का इस हद तक पतन नहीं हुआ होता। रामकृष्ण-विवेकानन्द के उपदेशों पर सैद्धांतिक तूफान उठाने से कुछ नहीं होने वाला। उन्होंने कोशिश की कि हम भी उनके समान अवस्था प्राप्त करें। वैसी अवस्था में हमें अहसास होगा कि सम्पूर्ण ब्रम्हांड में प्रत्येक व्यक्ति हमसे जुड़ा हुआ है। तब हम अन्य सभी लोगों में अपने अस्तित्व का अनुभव करने के योग्य हो सकेंगे। तब हम अपने भीतर अपने चारों ओर फैले दुःख दर्दों का अहसास कर सकेंगे।

आध्यात्मिक मार्ग दर्शकों पर सैद्धान्तिक विचार-विर्मश करने की अपेक्षा हमें चिन्तन करना चाहिए श्रीरामकृष्ण के उस हृदय एवं मस्तिष्क का जो सभी को समान मानता था। हम उनके विचारों को जीवन में उतारने के

क्रम में तार्किक एवं बौद्धिक चर्चाओं के द्वारा अवरोध उत्पन्न करते हैं। ऐसा इसलिए, क्योंकि श्रीरामकृष्ण के उपदेश एक ऊँची मानसिक अवस्था में दिये गए हैं, जो हम अपने क्षुद्र मन द्वारा, तार्किक रूप से नहीं समझ सकते। यही कारण है कि हमें उनके विचारों को अपने जीवन में रूपांतरित करने के लिए प्रथमतः अपने मन, विचार, बुद्धि को आध्यात्मिक रूप से विकसित करने की आवश्यकता है। हमें यह सब धीरे-धीरे कदम बढ़ाकर करना है एवं पहले, शिव को अपने मन में स्थापित कर लेना है। शिव सीमित नहीं, अनंत हैं। इस चरण-बद्ध आध्यात्मिक विकास के तहत, हम शनैः-शनैः इस आनंद के सागर में डूब जाएँगे। इस अवस्था को प्राप्त करने के पश्चात् हमें शांति की प्राप्ति होगी। हम सभी के प्रति सामंजस्य का भाव रखेंगे एवं यह जान जाएँगे कि हम प्रभु की ही संतानें हैं, उन्हीं के साम्राज्य के निवासी हैं। सारे वचन उन्हीं के हैं, सारे कार्य उन्हीं के हैं। अन्यों के हित के लिए की जाने वाली निःस्वार्थ सेवा भी उन्हीं की सेवा है। ऐसे पवित्र कार्यों द्वारा हम उन्हीं की सेवा करते हैं। ऐसी मानसिक अवस्था में हम कोई भी पापकर्म कर ही नहीं सकते। क्योंकि तब हम यह सोचेंगे कि जिसे हम कष्ट पहुँचा रहे हैं, वह भी हमारा ही स्वरूप है।

स्वार्थीपन एवं अहंभाव ऐसी स्थिति में नष्ट हो जाते हैं। क्योंकि हम तो, यह जान चुके हैं कि सब कुछ ईश्वर का है और हम भी। वे साकार होते हुए भी निराकार हैं, अनंत हैं। इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए गुरु की आवश्यकता होती है। हमें जप में डूब जाना चाहिए। वह मंत्र जिसका हम मौन रूप से जाप करते हैं हमारे स्वरूप का उद्‌घाटन करता है तथा निरन्तर बताता है कि अपने भीतर शांत एवं स्थिर रहो। तुम उत्तेजित और आशांत हो गये हो। शान्त होओ और तब तुम अपने स्वरूप को जानोगे।'' तभी शान्ति एवं आनन्द की उपलब्धि हो सकेंगी। हमलोग स्वयं प्रेम, आनन्द, उल्लास और शान्ति के साकार स्वरूप हो जाएँगे और तब ऐक्य की विश्वव्यापी लय का हमलोग स्वयं सामंजस्य कर सकेंगे।

प्रेम की शक्ति

"प्रेम ही मैदान जीतेगा। क्या तुम अपने भाई मनुष्य जाति-को प्यार करते हो? ईश्वर को कहाँ ढूँढ़ने चले हो-ये सब गरीब, दुःखी, दुर्बल मनुष्य क्या ईश्वर नहीं हैं? इन्हीं की पूजा पहले क्यों नहीं करते? गंगा-तट पर कुआँ खोदने क्यों जाते हो? प्रेम की असाध्यसाधिनी शक्ति पर विश्वास करो।''

"जब तुम सुख की कामना समाज के लिए त्याग सकोगे तब तुम भगवान बुद्ध बन जाओगे, तब तुम मुक्त हो जाओगे।''

-स्वामी विवेकानन्द

स्वामी विवेकानंद और भारतीयता की अवधारणा

-कु० ऋचा रश्मि, छपरा

अक्सर हम कुछ लोगों को यह नारा लगाते हुए सुनते हैं कि "गर्व से कहो हम हिन्दू हैं या गर्व से कहो हम मुसलमान हैं।" लेकिन एक नारा जो "गर्व से कहो कि हम भारतीय हैं" शायद ही किसी भारतीय नागरिक की जवान पर आये। वात अगर मन में आती भी है तो वाहर आने के पहले ही गले में अटक जाती है। ऐसा लगता है मानों भारतीयता या हिन्दूपन या मुसलमानत्व में कोई अंतर्विरोध है। गर्व करने के लिये मात्र भारतीय होना पर्याप्त नहीं हिन्दू या मुसलमान होना जरूरी है, या फिर भारतीय होने के लिये अपने भीतर के हिन्दुत्व अथवा मुसलमानत्व की उपेक्षा जरूरी है। क्या वाकई हिन्दू, मुसलमान और भारतीय एक साथ नहीं हुआ जा सकता?...... यह एक वड़ा ही महत्वपूर्ण प्रश्न है। स्थिति बड़ी गम्भीर प्रतीत होती है। भारत एक धर्म निरपेक्ष राष्ट्र है। यहाँ विभिन्न धर्मों के अनुयायी रहते हैं, अपने-अपने धर्म के विषय में सवकी अपनी-अपनी अवधारणाएँ हैं। इसे मानने के लिये सभी स्वतंत्र भी हैं लेकिन आज हम धर्मनिरपेक्षता का अर्थ भूलते जा रहे हैं। साम्प्रदायिक संकीर्णता वढ़ती जा रही है धर्म के नाम पर, जो धार्मिक उन्माद को बढ़ावा दे रही है। इसके विध्वंसक कारनामें प्रायः रोज पढ़ने एवं देखने को मिल रहें है। कहीं ईसाइयों की सामूहिक हत्या तो कहीं मुसलमानों को जिंदा जलाया जाना तो कहीं मुस्लिम वहुल क्षेत्रों में हिन्दू पण्डितों की हत्या आम वात हो गई है।

अव हमें विचारना है कि सही भारतीयता क्या है? जो विनाश को रोक कर भारत की एकता एवं अखण्डता को कायम रखे!

भारतीय शव्द का प्रयोग केवल सूचनात्मक ढंग से नहीं किया जा सकता, यहाँ भारतीयता शव्द एक विशेष मूल्यबोध और भावभूमि की व्यंजना करता है। भारतीयता की विशेषता है समन्वय और सहिष्णुता। भारतीय संस्कृति सनातन काल से ही धर्म पर आधारित रही है, जिसने सर्वभूतों में देवत्व की अनुभूति की है उसका मूल उद्धेश्य मोक्ष की प्राप्ति रही है।

अगर हम ध्यान से देखें तो पायेंगे कि हमारे देश में भारतीयता का ह्रास और धार्मिक उन्माद तव शुरू होता है जव हम इन मानवीय मूल्यों को जीवन से पुराना कह कर खारिज कर देते हैं। यह गिरावट हमें वर्षों से देखने को मिल रही है। आज तो यह चरम स्थिति पर है। स्वामीजी ने कहा था-गर्व से कहो कि हम भारतीय हैं।

यहाँ भारतीयता से हमारा तात्पर्य ऐतिहासिक अनुभवों की संचित स्मृतियों और विशेष सामाजिक मर्यादाओं के समुच्चय से है। इन मानदण्डों पर विचार करने पर मालूम होगा कि जो लोग अबतक धर्म के नाम पर साम्प्रदायिकता का धिनौना खेल-खेल रहे हैं वे एक देश द्रोही हैं न कि एक देशभक्त भारतीय। उनका एकमात्र लक्ष्य होता है देश की जनता को ईर्ष्या और द्वैष की भट्ठी में झोंक कर अपने स्वार्थ की रोटी सेंकना।

प्रश्न है कि इस स्वार्थपूर्ण लिप्सा पर आधारित इन विधटनकारी ताकतों का प्रतिहार कैसे किया जाए? इसके लिए हमें अपने मनीषियों के विचारों को देखना होगा, उनसे कुछ सीख

होगा। इसमें सबसे आधुनिक एवं विचार योग्य हैं। ''स्वामी विवेकानंद'' स्वयं न केवल राष्ट्रीयएकता के ज्वलंत उदाहरण थे बल्कि विश्वमानव थे। स्वमीजी का धर्म सभी धर्मों का आदर करना सिखलाता है। सारे संसार में उनसे ज्यादा कौन महान संत आदर का पात्र हुआ है। पर यह उच्च स्थान उन्होंने हिन्दू-हिन्दू की पाखण्ड विद्वेषतापूर्ण रट लगाकर नहीं बल्कि सब प्रकार की धर्मान्धता एवं कूपमंडूकता के विरुद्ध या संधर्ष के जरिये हासिल किया था।

उन्होंने अपनी प्रखर मेधा एवं विपुल साधना के द्वारा सारे धर्मों की आंतरिक एकता का उद्धाटन करते हुए एक विराट धार्मिक समन्वय का स्वप्न देखा था जो कि पूर्ण भारतीयता के मूल्यों पर आधारित था।

स्वामीजी का हिन्दूत्व किसी प्रकार के धार्मिक, साम्प्रदायिक एवं सामाजिक भेदभाव के विरुद्ध चेतना एवं शक्ति का संचार करता है। स्वामीजी कहते हैं-''हमें व्यावहारिक अद्वैतवाद को अपनाना होगा जो समस्त मानव जाति को अपनी ही आत्मा का स्वरूप समझता है, तथा उसी के अनुकूल आचरण करता है।''

कोई भी साफतौर पर देख सकता है कि स्वामी विवेकानंद किस तरह सारे धार्मिक समुदायों की आपसी समझ एवं सामंजस्य पर आधारित एक भारतीय राष्ट्र की कल्पना करते हैं न कि किसी संकीर्ण साम्प्रदायिक हिन्दू राष्ट्र की। स्वामीजी समाज में व्याप्त ढोंग अंधविश्वास एवं जाति प्रथा जैसी बुराइयों के सख्त विरोधी थे। स्वामीजी भारतीय जनों की एकता में विश्वास रखते थे। उनका विश्वास था कि हिन्दू, मुसलमान और विभिन्न धर्मावलम्वी हमारी संस्कृति की समृद्धि के लिये मोजैक पत्थर के विभिन्न दानों की भाँति हैं। उनके अनुसार हिन्दू और मुसलमान दोनों को परस्पर एक दूसरे की विशिष्टताओं को सीखना होगा जिससे वे सिर्फ एक वर्ग विशेष के न होकर पूरे राष्ट्र के हो सकें, एक अच्छा इंसान वन सकें। मनुष्य निमार्ण चरित्र निमार्ण उनका धर्म था।

उन्होनें अपने देशवासियों को ईर्ष्या और स्वार्थ को त्याग कर उनके ऊपर उठकर मनुष्य की इस पूर्णता को हासिल करने का आह्वान किया था।

स्वामीजी कहते हैं कि ''हर राष्ट्र का अपना एक आदर्श होता है, प्रगति करने के अपने अलग-अलग रास्ते हैं। जिसका अंधानुकरण नहीं किया जा सकता है।'' भारत में भी आज पाश्चात्य सभ्यता के अंधानुकरण के परिणाम से सभी वाकिफ हैं, कितनी गिरावट आयी है!

भारत का राष्ट्रीय आदर्श है त्याग, तितिक्षा और ईश्वर में विश्वास। भारत को इसे मानना ही होगा।

सच्चा भारतीय चाहे हिन्दू हो या मुसलमान गहरा धार्मिक होता है, त्यागी होता है, वह ईश्वर की सत्ता को मानता है। त्याग और मानव सेवा से युक्त भावना मनुष्य के दिव्यत्व को प्रकट करती है जबकि स्वार्थ और द्वेष से संयुक्त धार्मिक भावना अत्यंत धृणित पाशविकता को प्रदर्शित करती है।

हिन्दुओं की भाँति ही मुसलमान भाइयों को यह नहीं भूलना चाहिए कि पैगम्वर मुहम्मद मनुष्यों को सावधान करने आये थे। वे लोगों को एकता के सूत्र में बाँधने आये थे। ईसाइयों

के लिए भी उचित है कि वे राजनैतिक आवश्यकताओं से उत्पन्न प्रलोभनों से ऊपर उठें। जिससे वे भारत की मिट्टी से अपनी एकात्मकता स्थापित कर सकें। आज हमारी मातृभूमि हमारे मतभेदों को भुला देने का आह्वान कर रही है। आज हमें स्वामीजी के उस स्वप्न को साकार करने का समय आ गया है जो उन्होंने १० जून १८९८ को अपने मित्र मुहम्मद सरफराज हुसैन के पत्र में लिखा था-हम मनुष्य जाति को उस स्थान पर पहुँचाना चाहते हैं जहाँ न वेद है, न बाइविल है, न कुरान है परन्तु वेद बाइविल और कुरान के समन्वय से ही ऐसा हो सकता है। समन्वय का यह संदेश एक शक्तिशाली और समृध्दि से पूर्ण राष्ट्र गठित करने का संदेश देता है।

—जय स्वामी जी

अनायास प्रकाश

बहुत समय पहले एक संत रहा करते थे। उनका जीवन बहुत उच्च था। जिस तरह पुष्प अपनी सुगंध, तारे अपना प्रकाश अनायास ही बिखेरते हैं, उसी तरह उनका जीवन सबको सुख तथा शांति प्रदान करता था। दया, क्षमा, त्याग आदि सदगुणों की वे अद्भुत मिसाल थे।

एक बार कुछ देवदूत उनका जीवन देख कर प्रभावित हुए तथा उनसे कुछ वर अथवा सिद्धि माँगने को कहा। देवदूतों ने कहा "क्या आपको हम चमत्कारपूर्ण शक्ति दें जिससे आप के स्पर्श मात्र से रोगी चंगा हो जाए। संत बोले "नहीं, यह शक्ति नहीं चाहता। ईश्वर की कृपा से ही रोगी ठीक होते हैं।" तब देवदूत बोले "क्या आपको, पापी व्यक्ति का हृदय परिवर्त्तन कर उसको सन्मार्ग पर लाने की शक्ति दे दें।" तब संत बोले "नहीं भई, यह कार्य तो ईश्वर द्वारा प्रदत्त विशेष शक्ति-संपन्न व्यक्ति ही करेंगे।" तब देवदूत बोले "क्या आपकी कीर्त्ति आपके सद्गुणों से महिमान्वित हो जिससे आप सुविख्यात हो जायें?" तब संत ने कहा "नहीं भई, यह सब होने से लोग ईश्वर को छोड़कर मुझमें आसक्त हो जायेंगे।"

तब देवदूतों ने कहा कि आप क्या चाहते हैं? तब संत बोले कि ईश्वर की कृपा से मेरे पास सब कुछ हैं, मैं क्या माँगू? देवदूत बोले "नहीं, आप कुछ अवश्य माँगिये, अन्यथा हम बल पूर्वक आपके न चाहते हुए भी, कुछ न कुछ सिद्धि आपको थोप जायेंगे।" तब संत बोले "बहुत अच्छा, तो फिर मेरे द्वारा यदि कोई अच्छा कार्य हो तो, मुझे उसका पता तक न लगे।"

तब देवदूत बहुत परेशानी में पड़ गये कि यह कैसे संभव होगा कि संत द्वारा अच्छे कार्य हों लेकिन उन्हें उसका पता तक न लगे? उन्होंने बहुत विचार किया। तत्पश्चात यह वर दिया कि संत की परछाई जिस जगह पड़े उसे वे न देख सकें लेकिन परछाई द्वारा रोग की मुक्ति, दुःख-दर्द से राहत तथा बेचैन एवम् अशांत लोगों को शांति, सुख-समृद्दि प्राप्त हो। इस प्रकार वे संत जहाँ पर भी जाते उनकी परछाई से ही वीरान जगह हरी-भरी हो जाती, पेड़-पौधों में फूल लगजाते तथा दुःखी, रोगी, अशांत लोगों को सुख तथा शांति की प्राप्ति होती। लेकिन उन संत का जीवन पूर्ववत सामान्य तरीके से ही व्यतीत होता रहा, जिस तरह पुष्प अपनी सुगंध तथा तारे अपना प्रकाश अनायास ही बिखेरते हैं।

-स्वामी रामतीर्थ के Complete Works से साभार

पूर्ण कुम्भ मेला शिविर–2001

प्रिय मित्र,

प्रयागराज का कुम्भ मेला विश्व के सबसे बड़े धार्मिक उत्सव के रूप में प्रसिद्ध है। सहस्राब्दी का प्रथम पूर्ण कुम्भ मेला यहां ९ जनवरी से ८ फरवरी, २००१ तक संपन्न होने जा रहा है। इस महान अवसर पर देश के सभी भागों एवं विदेश से एक सौ पचास लाख से भी अधिक तीर्थयात्रियों और साधुओं के भाग लेने की आशा है।

रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम प्रयाग, पूर्व वर्षों की भाँति मेला भूमि पर धर्म और अध्यात्म के प्रचार के लिए तथा साधुओं, तीर्थयात्रियों और कल्पवासियों को निःशुल्क चिकित्सा-सुविधा उपलब्ध कराने के लिए एक शिविर खोलने जा रहा है। शिविर की मुख्य गतिविधियां इस प्रकार होंगी—

१) साधुओं, कल्पवासियों तथा यात्रियों को निःशुल्क चिकित्सा प्रदान करने के लिए आधुनिक दवाइयों से युक्त तथा सुयोग्य डाक्टरों, कम्पाउण्डरों और चिकित्सा कर्मियों द्वारा संचालित एक एलोपैथिक और होमियोपैथिक क्लिनिक तथा एक प्राथमिक चिकित्सा केन्द्र जिसमें एक्यूपंचर चिकित्सा की भी सुविधा रहेगी। (प्रतिदिन रोगियों की औसत अनुमानित संख्या १५००)।

२) एक मन्दिर और सत्संग पंडाल जहाँ प्रतिदिन भजन और प्रवचन के कार्यक्रम होंगे तथा जहाँ संत सम्मेलन, वेदान्त सम्मेलन, भक्त सम्मेलन और युवा सम्मेलन का आयोजन किया जायेगा।

३) श्रीरामकृष्ण तथा स्वामी विवेकानन्द के विचारों और आदर्शों और वेदान्त साहित्य के प्रचार-प्रसार के लिए पुस्तक विक्रय केन्द्र जहाँ हिन्दी, अंग्रेजी तथा बंगाली में साहित्य उपलब्ध रहेगा।

४) एक चित्रमय प्रदर्शनी जो श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द के जीवन और उपदेशों को तथा भारत में वैदिक काल से लेकर अब तक धर्म और संस्कृति के क्रमशः उत्थान को दर्शायेगी। पूरे शिविर का अनुमानित खर्च ६०,००,०००/-(साठ लाख रु०) है। इसलिए सेवाश्रम उदारमना जनता से इस उत्तम लोकोपकारी कार्य में सहायता के लिए आन्तारकता से अपील करता है। नगद, चेक तथा ड्राफ्ट द्वारा प्राप्त आपका दान सधन्यवाद गृहीत होगा।

५) चेक तथा ड्राफ्ट "A/C Payee only" से रेखित और "रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, इलाहाबाद" के नाम पर काटा जाना चाहिए और इसे यदि रजिस्टर्ड डाक से भेजा जाय तो अधिक श्रेयस्कर होगा।

धन्यवाद सहित,

प्रभु सेवा में आपका

स्वामी निखिलात्मानन्द

सचिव

---

१) रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम को दिया गया दान इन्कम टैक्स ऐक्ट १९६१ की धारा ८० जी के अधीन आयकर से मुक्त है।

२) महत्वपूर्ण स्नान के दिन हैं — ८ जनवरी (पौष पूर्णिमा), १४ जनवरी (मकर संक्रांति), २४ जनवरी (मौनी अमावस्या), २८ जनवरी (बसन्त पंचमी) और ८ फरवरी (माघ पूर्णिमा)।

३) जो लोग कुम्भ मेला के अवसर पर हमारे परिसर में भोजन एवं आवास की सुविधा चाहते हैं, उन्हें १५ अक्टूबर तक अग्रिम भुगतान के साथ, एक निर्दिष्ट फार्म पर आवेदन करके अपना स्थान आरक्षित करा लेना चाहिए। आवेदन-पत्र तथा विशेष जानकारी के लिए उपरोक्त पते पर शीघ्र लिखने का कष्ट करें।

डाक पंजीयित संख्या - सी.एच.पी. १४-८३

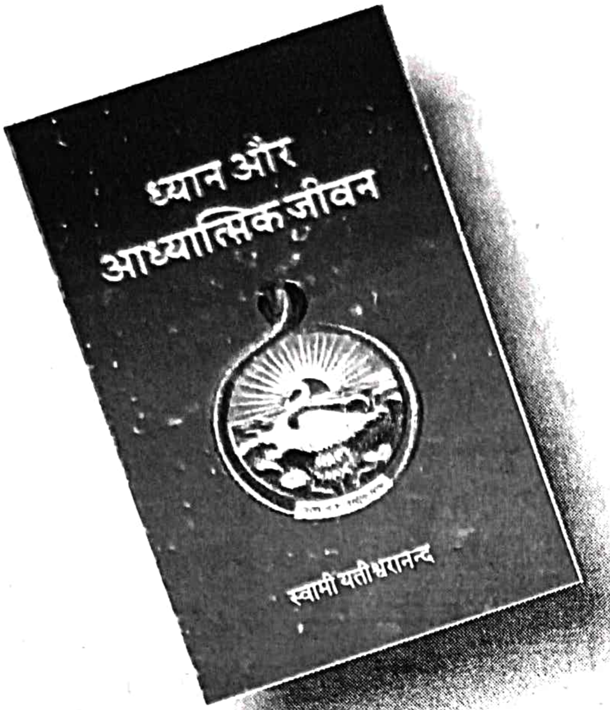

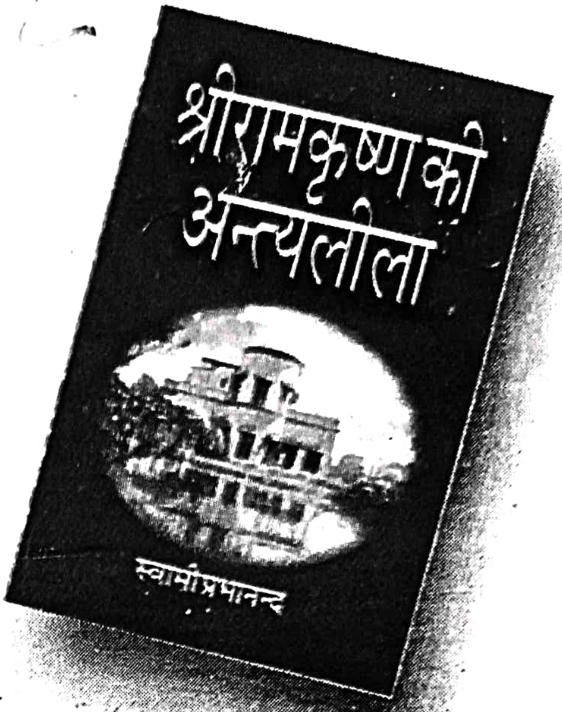

कुछ संग्राह्य पुस्तकें

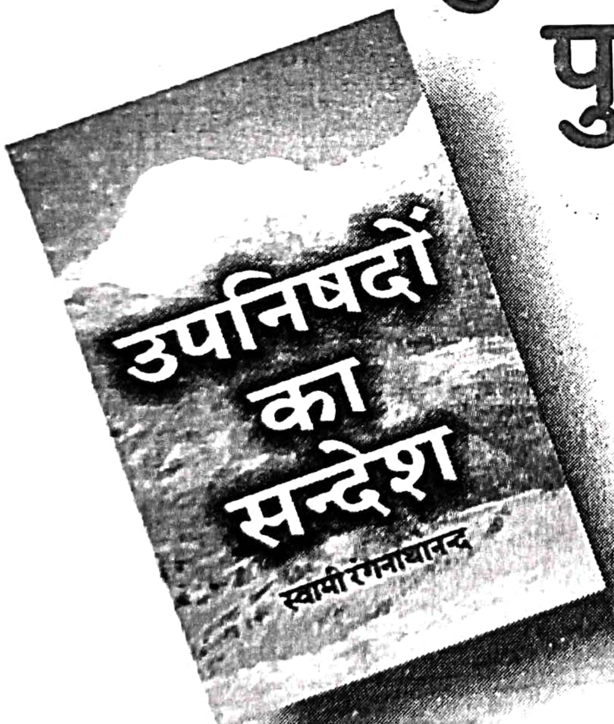

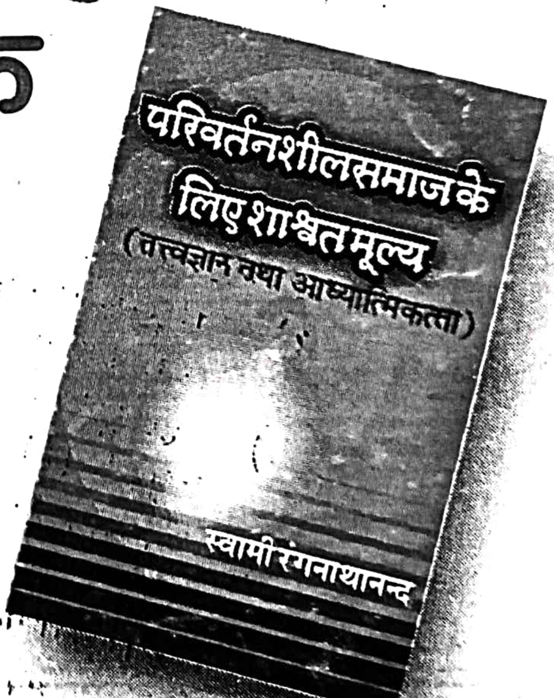

अधिक जानकारी के लिए लिखें :

रामकृष्ण मठ (प्रकाशन विभाग) धन्तोली, नागपुर (महाराष्ट्र) ४४० ०१२

श्रीमती गंगा देवी, जयप्रकाश नगर, छपरा (बिहार) द्वारा प्रकाशित एवं शिवशक्ति प्रिण्टर्स, सैदपुर, पटना-४ में मुद्रित।
सम्पादक : डॉ केदारनाथ लाभ